

BIBLIOTHECA INDICA

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 136

॥ अथर्ववेदोक्तम् ॥

॥ सातपथब्राह्मणे दार्शनिकशास्त्रमाद्यमहितम् ॥

THE SATAPATHA BRAHMANA

THE ARVYAKA

WITH THE

COMMENTARY OF SHANACHARYA



EDITED BY

LATE ACHARYA SATYAVRATA SAMASRAMI'S

son and pupil

PROF. HITAVRATA SAMAKANTHA.

Assistant Lecturer, Vellore, The University of Calcutta

VOL. XIX FASC. I.

CALCUTTA :

PRINTED BY S. V. CHATTERJEE, SATYA PRESS, 16/1, CHOSE LANE

AND PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY, 1, PARK STREET,

1911.

LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL

NO. 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM THE SOCIETY'S AGENTS,—

MR. BERNARD QUARITCH, 11, Grafton Street, New Bond Street, London, W.,

AND MR. OTTO HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY

Complete copies of those works marked with an asterisk * cannot be supplied—some of the fasciculi being out of stock.

BIBLIOTHECA INDICA.

Sanskrit Series

| | | | |
|---|-----|----|----|
| *Advaita Brahma Siddhi, Fasc. 2,4 @ 1/10/ each | Rs. | 1 | 4 |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-3 @ 1/10/ each | .. | 1 | 14 |
| *Agni Purāna, Fasc. 3-14 @ 1/10/ each | .. | 7 | 8 |
| Aitareya Brahmana, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/10/ | .. | 14 | 6 |
| Aitareya-lohanam, (the preface of the Ditto) by Ācārya S. V. Samasrami | .. | 2 | 0 |
| *Anu bhāshya, Fasc. 2-5 @ 1/10/ each | .. | 2 | 8 |
| Aphorisms of Sāṅkhya, (English) Fasc. 1 | .. | .. | 0 |
| Aṣṭasāhasrikā Prajñāparimitā Fasc. 1-6 @ 1/10/ each | .. | 3 | 12 |
| Acuvavaiyuka, Fasc. 1-5 @ 1/10/ each | .. | 3 | 2 |
| *Ātharvāna Upaniṣad, Fasc. 3-5 @ 1/10/ each | .. | 1 | 14 |
| Avadana Kalpalata, (Sansk. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 1-6; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/10/ each | .. | 11 | 0 |
| A Lower Ladakhi version of Kesarsaga, Fasc. 1-3 @ 1/10/ each | .. | 3 | .. |
| Bālam Bhaṭṭi, Vol. I Fasc. 1-2, Vol. II Fasc. 1 @ 1/10/ | .. | 1 | 14 |
| Baudhāyana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3, Vol. II Fasc. 1-4 @ 1/10/ each | .. | 2 | 8 |
| *Bhānūti, Fasc. 4-8 @ 1/10/ | .. | 3 | 2 |
| Bhāṭṭa Dīpikā Vol. I, Fasc. 1-5 @ 1/10/- | .. | 3 | 2 |
| Brahma Sūtra, Fasc. 1, @ 1/10/ | .. | 0 | 10 |
| Bṛhaddēvatā, Fasc. 1-4 @ 1/10/ each | .. | 2 | 8 |
| Bṛhaddharma Purāna, Fasc. 1-6 @ 1/10/ each | .. | 3 | 12 |
| Bodhicāryāvatāra of Cāntidevi, Fasc. 1-5 | .. | 3 | 2 |
| Çatadusani, Fasc. 1-2 | .. | 1 | 4 |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/10/ each | .. | 8 | 0 |
| Çatapatha Brahmana Vols. I Fasc. 1-7, II Fasc. 1-5, III Fasc. 1-7, V Fasc. 1-4 | .. | 14 | 6 |
| Çatanāhasrikā prajñāparimitā, Part I, Fasc. 1-12 @ 1/10/ each | .. | 7 | 8 |
| *Caturvarga Chintāmani (Text) Vols. II, 1-2, III, Part I, Fasc. 1-18, Part II, Fasc. 1-10 @ 1/10/ each; Vol. IV, Fasc. 1-10 | .. | 36 | 14 |
| Çlokavārtika, (English) Fasc. 1-6 @ 1/4/ | .. | 7 | 8 |
| *Çrānta Sūtra of Āpastamba, Fasc. 9-17 @ 1/10/ each | .. | 5 | 10 |
| Ditto Acvālāyan, Fasc. 4-11 @ 1/10/ each | .. | 5 | 0 |
| Ditto Çāṅkhayan, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-3, Vol. IV Fasc. 1 @ 1/10/ each | .. | 10 | 0 |
| Ditto Latyāyan Fasc. 1-10 @ 1/10/ each | .. | 5 | 10 |
| Çri Bhāshyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/10/ each | .. | 1 | 14 |
| Dān Kriyā Kaumudi, Fasc. 1-2 | .. | 1 | 4 |
| Gadādhara Paḍdhati Kālasāra, Vol. I, Fasc. 1-7 | .. | 4 | 6 |
| Ditto Acarasāra, Vol. II, Fasc. 1-3 | .. | 1 | 4 |
| Gobhiliya Ghyo Sūtram, Fasc. 4-12 @ 1/10/ | .. | 5 | 10 |
| Kālu Viveka, Fasc. 1-7 | .. | 4 | 6 |
| Kātantra, Fasc. 1-6 @ 1/12/ each | .. | 4 | 8 |
| Kathā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/4/ each | .. | 17 | 8 |
| Kūrmā Purāna, Fasc. 3-9 @ 1/10/ each | .. | 3 | 2 |
| Lalita-Vistāraṣ (English) Fasc. 1-3 @ 1/- each | .. | 3 | 0 |
| Ditto Fasc. 3-6 @ 1/10/ each | .. | 2 | 8 |
| Madana Pārijāta, Fasc. 1-11 @ 1/10/ each | .. | 6 | 14 |
| Mahā bhāṣya-pradīpodyota, Vol. I Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/10/ each | .. | 16 | .. |
| Manuṣikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/10/ each | .. | 1 | 14 |
| Mārkaṇḍeya Purāna (English) Fasc. 1-9 @ 1/- each | .. | 9 | 0 |
| *Ditto (Text) Fasc. 5-7 @ 1/10/ | .. | 1 | 14 |
| *Mīmāṃsā Darśana (Text) Fasc. 9-19 @ 1/10/ each | .. | 8 | 12 |

॥ शतपथब्राह्मणम् ॥



॥ अथ ॥

॥ नवमकारणम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥



॥ हरिः ॐ ॥

अथातः शतरुद्रियं ब्रुहोति । अथैष सर्वा
ऽग्निः संस्कृतः सु एषो ऽथ रुद्रो देवता तस्मिन्
देवा एतदमृतं रूपं मुत्तमं मदधुः सु एषो ऽत्र-
दोष्यमानो ऽतिष्ठद्ब्र मिच्छमानस्तस्माद्देवा अविभयुर्यद्दे-
वो ऽयं न हि ऽस्यादिति * ॥ १ ॥

* 'हि ऽस्यादिति'—इति न, च ।

ते ऽब्रुवन् । अन्न मस्यै सम्भराम तेनैनः शमया
मेति तस्मा ऽएतदन्नः समभरञ्छान्तदेवत्यं तेनै-
मशमयंस्तद्यदेतं देव मेतेनाशमयंस्तस्माच्छान्तदेवत्यः
शान्तदेवत्यः इ वै तच्छतरुद्रिय मित्याचक्षते
परोऽर्घं परोऽर्घकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नय मेतद-
मृतः रूप मुत्तमं दधाति स एषो ऽत्र दीप्यमान
स्तिष्ठत्यन्न मिच्छमानस्तस्मा ऽएतदन्नः सम्भरति शान्त-
देवत्यं तेनैनः शमयति ॥ २ ॥

जर्तिलैर्जुहोति । जायत ऽएष एतद्यज्ञीयते स
एष सर्वस्मा ऽअन्नाय जायत ऽउभयम्बैतदन्नं यज्ज-
र्तिला यच्च याम्यं यच्चारण्यं यद्दह तिलास्तेन याम्यं
यद्दक्ते पच्यन्ते तेनारण्य मुभयेनैवैन मेतदन्नेन प्रीणातिः
याम्येण चारण्येन च ॥ ३ ॥

अर्घ्यपर्णेन जुहोति । अन्न मर्क्यो ऽन्नैवैवैन मेतत्
प्रीणाति ॥ ४ ॥

परिश्रित्सु जुहोति । अन्नय एते यत्परिश्रित
स्तयो हास्येता अग्निमत्येवाहुतयो हुता भवन्ति ॥ ५ ॥

यद्देवैतच्छतद्रियं जुहोति । प्रजापतेर्विस्र-
 स्ताद्देवता उदकामंस्तमेक एव देवो नाजहान्मन्धुरेव
 सो ऽस्मिन्नन्तर्विततो ऽतिष्ठत् सो ऽरोदीप्तस्य यान्य-
 शूषि प्रास्कन्दस्तान्यस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन्स एव
 शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधिरथ या
 अन्या विप्रुषो ऽपतंस्ता असंख्याता सहस्राणीमां-
 स्लोकाननुप्राविशंस्तद्यद्दुदितात्समुभवंस्तस्माद्रुद्राः सो
 ऽयं शतशीर्षा रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा
 प्रतिहितायी भीषयमाणो ऽतिष्ठदन्न मिच्छमानस्तस्मा-
 द्देवाः शोचन्त्यः ॥ ६ ॥

तं प्रजापतिं मन्त्रेण । यस्माद्देविभीमो यद्दे-
 नोऽयं न हिंस्यादिति सो ऽब्रवीदन्न मस्मै सम्भरत
 तेनैतं शमयतेति तस्मा ऽपतदन्नं समभरच्छतद्रि-
 द्रियं तेनैव शमयंस्तद्यदेतं शतशीर्षा रुद्र
 मेतेनाशमयं तस्माच्छतशीर्षरुद्रशमनीयं शतशीर्ष-
 रुद्रशमनीयं वै तच्छतद्रियमित्याचक्षते परोऽक्षं
 परोऽक्षकामश्चिद्देवास्तथैवास्मै ऽयं मेतदन्नं सम-
 भरति तच्छतद्रियं तेनैतं शमयति ॥ ७ ॥

गवेधुकासक्तुभिर्जुहोति । यत्र वै सा देवता
 विस्रस्ताशयत्ततो गवेधुकाः समभवत्स्वेनैवैन मेतद्-
 भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ८ ॥

अर्कपर्णेन जुहोति । एतस्य वै देवस्याशयादर्कः
 समभवत्स्वेनैवैन मेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ९ ॥

परिश्रित्सु जुहोति । लोमानि वै परिश्रितो
 न वै लोमसु विषं न किञ्चन हिनस्त्युत्तरार्हेऽग्ने-
 रुदङ् तिष्ठन् जुहोत्येतस्यां ह दिश्येतस्य देवस्य
 गृहाः स्वाया मेवैन मेतद्दिशि प्रीणाति स्वायां दिश्यव
 यजते ॥ १० ॥

स वै जानुदघ्ने प्रथमं स्वाहाकरोति । अधु-
 द्भव वै तद्यज्जानुदघ्न मधु-द्भव तद्यदयं लोकस्तद्य
 ऽष्टमं लोकं रुद्राः प्राविशंस्तां स्तत् प्रीणाति ॥ ११ ॥

अथ नाभिदघ्ने * । मध्यमिव वै तद्यन्नाभिदघ्नं
 मध्यमिवान्तरिक्षलोकस्तद्ये ऽन्तरिक्षलोकं रुद्राः प्रा-
 विशंस्तां स्तत् प्रीणाति ॥ १२ ॥

अथ मुखदघ्न । उपरीव वै तद्यन्मुखदघ्न मुपरीव
तद्यदसौ लोकस्तद्येऽमं लोकं रुद्राः प्राविशंस्तांस्तत्
प्रीणाति स्वाहाकारेणान्नं वै स्वाहाकारो ऽन्नैवैना-
नतत् प्रीणाति ॥ १३ ॥

नमस्तं रुद्र मन्यव ऽइति । य एवास्मिन्नसो
ऽन्तर्मन्युर्विततो ऽतिष्ठत्तस्मा ऽएतन्नमस्करोत्युद्धो त
ऽइषवे नमो बाहुभ्या मुत ते नम इतीष्टा च हि
बाहुभ्यां च भीषयमाणो ऽतिष्ठत् ॥ १४ ॥

स एष चक्रं देवः * । यः स शतशीर्षा समभव-
द्विश इम ऽइतरे ये विप्रुड्भ्यः समभवस्तस्मा ऽए-
तस्मै ज्ञत्रायैता विश एतं पुरस्तादुद्धार मुदहरन्त्य
एष प्रथमो ऽनुवाकस्तेनैव मप्रीणांस्तथैवास्मा ऽअय मेतं
पुरस्तादुद्धार मुदरति तेनैव प्रीणाति तस्मादिष
एकदेवत्यो भवति रौद्र एतं ऽइतेन प्रीणाति ॥

॥ १५ ॥

चतुर्दशैतानि यजूषि भवन्ति । त्रयोदश
मासाः संवत्सरः प्रजापतिश्चतुर्दशः प्रजापतिरग्नि-

या॒वान॒ग्नि॒या॒वित्यस्य॑ मा॒त्रा ता॒वतै॒वैन॑ मे॒तद॒ग्नेन॑ प्री॒
णाति॑ न॒मो न॒म इति॑ य॒ज्ञो वै न॒मो य॒ज्ञेनै॒वैन॑
मे॒तन्न॑मस्कारेण॒ नमस्यति॑ त॒स्माद् इ॒ह ना॒यज्ञि॒यं
ब्रू॒यान्न॑मस्त॒ ऽइति॑ यथा॒ है॒नं ब्रू॒याद्य॑स्त॒ ऽइति॑
ता॒दृक्तात् * ॥ १६ ॥

अथ॒ इ॒न्द्रि॒भ्यो जु॒होति॑ । न॒मो ऽमु॒ष्मै चेति॑
तद्यथा॒ वै ब्रू॒यादसौ† त्वं च न एष॒ च मा॒ हि॒ ऽसि॒ष्ट
मित्ये॒व मे॒तदा॒ह न॒तरा॑ ऽ हि॒ वि॒दित॑ आ॒मन्वि॒तो
हि॒नस्ति॑ ॥ १७ ॥

न॒मो हि॒रण्य॑बा॒हवे॑ । से॒ना॒न्ये दि॒शां च प॒तये
न॒म इत्येष॑ ए॒व हि॒रण्य॑बा॒हुः से॒नानी॑रेषु॒ दि॒शां
प॒तिस्त॑द्यत् किञ्चा॒त्रैक॑दे॒वत्य॑ मे॒तमे॒व तेन॑ प्रीणाति
क्ष॒त्रमे॒व त॒द्विश्य॑पि॒भागं॑ करोति॒ तस्मा॑द्य॒द्विश॑स्त॒स्मिन्
क्ष॒त्रियो॑ ऽपि॒भागो॑ ऽथ॒ या अ॒संख्या॑ता॒ सह॑स्राणी॒माँ-
स्त्रीका॑ननु॒प्रावि॑शन्ने॒तास्ता॑ दे॒वता॑ या॒भ्य ए॒तञ्जु॑होति‡ ॥

॥ १८ ॥

* 'तादृक्तात्'—इति ग, घ ।

† 'ब्रूयादसौ'—इति च दृष्टं डा० वेङ्करमहोदयेन ।

‡ '० जुहोति'—इति ग, घ ।

अथ जातेभ्यो जुहोति । एतानि ह जातान्येते
 रुद्रा अनुप्रविविशुर्यव-यचैते तदेवैनामेतत् प्रीणा-
 त्यथो ऽएवुं हेतानि रुद्राणां जातानि देवानां वं
 विधामनु मनुष्यास्तस्माद् हेमानि मनुष्याणां जा-
 तानि यथाजातमेवैनामेतत् प्रीणाति ॥ १६ ॥

तेषां वा ऽउभयतो नमस्कारा अन्ये * । अन्य-
 तरतो नमस्कारा अन्ये ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा
 य ऽउभयतो नमस्कारा उभयत एवैनामेतद्यज्ञेन नम-
 स्कारेण शमयति ॥ २० ॥

स वा ऽअशीत्यां च स्वाहाकरोति । प्रथमे
 चानुवाके ऽथाशीत्या मथाशीत्यां च यानि चोर्हानि
 यजूष्यावतानेभ्यो ऽन्न मशीतयो ऽन्नैवैनामेतत् प्री-
 णाति ॥ २१ ॥

अथैतानि यजूषि जपति । नमो वः किरि-
 केभ्य इत्येतदास्य प्रतिज्ञाततमं धाम यथा प्रियो
 वा पुत्रो हृदयं वा तस्माद्यवैतस्माद्देवाच्छक्रेत तदेता-

भिव्याहृतिभिर्जुहुयादुप हैवैतस्य देवस्य प्रियं धाम
गच्छति तथो हैन मेघ देवो न हिनस्ति ॥ २२ ॥

नमो वः किरिकेभ्य इति । एते हीदु सर्वं
कुर्वन्ति देवानां हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य
एतानि ह तानि देवानां हृदयानि नमो विचि-
न्वत्केभ्य इत्येते हीदु सर्वं विचिन्वन्ति नमो
विचिगात्केभ्य इत्येते वै तं विचिगन्ति यं विचि-
क्षीषन्ति नम आनिर्हतेभ्य इत्येते ह्येभ्यो लोकेभ्यो
ऽनिर्हताः ॥ २३ ॥

अथोत्तराणि जपति । द्रापे ऽभ्रसस्पत ऽदु-
त्येष वै द्रापिरेष वै तं द्रापयति यं दिद्रापयिषत्य-
भ्रसस्पत ऽदुति सोमस्य पत ऽदुत्येतद्दरिद्र नील-
लोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च नाम-
ग्राह मेवैन मेतत् प्रीणात्यासां प्रजाना मेषां पशूनां
मा भेर्मा रोहो च नः किञ्चनाम मदिति यथैव
यजुस्तथा बभुः ॥ २४ ॥

स एष क्षत्रं देवः * । तस्मा ऽएतस्मै च्वायैता

* 'देवः'—इति ग, घ ।

विशो ऽमुं पुरस्तादुद्धार मुद्हरन्व्यो ऽसौ प्रथमो ऽनुवाको
 ऽथास्मा ऽएत मुपरिष्ठादुद्धार मुद्हरंस्तेनैव मप्रीणंस्तथै-
 वास्मा ऽअय मेत मुपरिष्ठादुद्धार मुद्हरति तेनैव
 प्रीणाति तस्मादप्येष एकदेवत्यो भवति रौद्र एवै-
 तु ऽद्यैतेन प्रीणाति * ॥ २५ ॥

सप्तैतानि यजूंषि भवन्ति । सप्तचित्तिकी-
 ऽग्निः सप्तऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो ऽग्निर्यावा-
 नग्निर्यावित्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद्वेन प्रीणाति
 तान्यभयान्येकविंशतिः सम्पद्यन्ते द्वादश मासाः
 पञ्चऽर्त्तवस्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश
 एता मभिसम्पदम् ॥ २६ ॥

अथावतानान् जुहोति । एतद्वा ऽपनान् देवा
 एतेनाम्नेन प्रीत्वाथैषा मत्तैरवतानैर्हनूष्यवातन्वंस्तथै-
 वैनानय मेतदेतनाम्नेन प्रीत्वाथैषा मत्तैरवतानैर्हनू-
 ष्यवतनोति न ह्यवततेन धनुषा कं चन हिनस्ति ॥
 ॥ २७ ॥

तद्वै सहस्रयोजन ऽद्विति । एतच्च परमं दूरं
यत् सहस्रयोजनं तद्यदेव परमं दूरं तदेवैषा मेत-
द्वनूष्यवतनोति * ॥ २८ ॥

यद्देवाह सहस्रयोजन ऽद्विति । अथ मग्निः
सहस्रयोजनं न ह्येतस्मादिति नित्यन्यत् परं मग्नि-
तद्यदग्नौ जुहोति तदेवैषां सहस्रयोजने धनू-
ष्यवतनोति † ॥ २९ ॥

असंख्याता सहस्राणि । अस्मिन् महत्यस्यैव
ऽद्विति यत्र-यत्र ते तदेवैषा मेतद्वनूष्यवतनोति ‡ ॥

॥ ३० ॥

दशैतानवतानान् जुहोति । दशाक्षरा द्विरा-
द्विराडग्निर्दृश दिशो दिशोऽग्निर्दृश प्राणाः प्राणा
अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैषा मेतद्वनू-
ष्यवतनोति § ॥ ३१ ॥

अथ प्रत्यवरोहान् जुहोति । एतद्वा ऽएतदिमां-
श्लोकानित ऊर्ध्वं रोहति स स पराडिव रोह इय

मु वै प्रतिष्ठा ते देवा इमां प्रतिष्ठा मभिप्रत्यायंस्तथै-
वैतद्यजमान इमां प्रतिष्ठा मभिप्रत्यैति ॥ ३२ ॥

यद्देव प्रत्यवरोहति । एतद्वाऽ एनानेतत् प्रीणा-
न्नन्वैति तत एवैतदात्मान मपोहरते जीवात्सै तयो
हानेनात्मना सर्व्व मायुरिति ॥ ३३ ॥

यद्देव प्रत्यवरोहति । एतद्वाऽ एतदेतान् रुद्रा-
नित जह्वान् प्रीणाति तान् पुनरमुतोऽर्वाचः ॥ ३४ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवीति । तद्येऽमुष्मिं-
स्र्लोके रुद्रास्तभ्य एतन्नमस्करोति येषां वर्षमिषव
इति वर्षं ह तेषा मिषवो वर्षेण ह ते हिंस्रन्ति
यं जिहिंस्रन्ति ॥ ३५ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षेऽइति । तद्येऽन्त-
रिक्षलोके रुद्रास्तभ्य एतन्नमस्करोति येषां वात
इषव इति वातो ह तेषा मिषवो वातेन ह ते
हिंस्रन्ति यं जिहिंस्रन्ति ॥ ३६ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्या मिति । तद्ये
ऽस्मिंस्त्र्लोके रुद्रास्तभ्य एतन्नमस्करोति येषा मन्न-

मिषव इत्यन्नं ह तेषा मिषवो ऽग्नेन ह ते हिंसन्ति
यं जिहिंसिषन्ति ॥ ३७ ॥

तेभ्यो दश प्राचीः । दश दक्षिणा दश प्रतीची-
र्दशोदीचीर्दशोर्वा इति दशाक्षराव्विराड्विराडग्निर्दश
दिशो दिशो ऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्यावा-
नग्निर्यावत्यस्य माचा तावतैवैनानेतदग्नेन प्रीणाति* ॥
॥ ३८ ॥

यद्देवाह दश-दशति । दश वा ऽपञ्चलेरङ्गलयो
दिशि-दिश्येवैभ्य एतदञ्जलिं करोति तस्माद् हेतद्-
भीतो ऽञ्जलिं करोति तेभ्यो नमो ऽपस्त्विति तेभ्य
एकं नमस्करोति ते नो मृडयन्त्विति तं ऽएवास्मै
मृडयन्ति ते यं द्विषो यश्च नो द्वेष्टि तं मेषां जम्भे
दध इति यं मेष द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि तं मेषां जम्भे
दधात्यमु मेषां जम्भे दधामीति ह ब्रूयाद्यं द्विष्या-
त्ततो ऽह तस्मिन्न पुनरस्त्यपि तन्नाद्रियेत स्वयंनिर्दिष्टो
द्येव स यमेवंविद्वेष्टि ॥ ३९ ॥

त्रिष्कृत्वः प्रत्यवरोहति । त्रिष्टुदग्निर्यावानग्नि-
 र्यावत्यस्य मात्वा तावतैवैनानेतदग्नेन प्रीणाति स्वाहा-
 कारेणान्नं वै स्वाहाकारो ऽग्नेनैवैनानेतत् प्रीणाति
 त्रिरित् ऊर्ध्वो रोहति तत् षट् तस्योक्तो बन्धुः ॥ ४० ॥

यद्देव त्रिष्कृत्वः प्रत्यवरोहति । त्रिर्हि कृत्व
 ऊर्ध्वो रोहति तद्यावत् कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तावत्
 कृत्वः प्रत्यवरोहति ॥ ४१ ॥

अथ तदूर्ध्वपणं चात्वालि प्रास्यति । एतद्वा
 ऽग्नेनैतद्रौद्रं कर्म करोति तदेतद्गान्तं तदेतत्तिरः
 करोति नेदिद् मशान्तं कश्चिद्भित्तिष्ठात्तन्नेद्विनस-
 दिति तस्माच्चात्वालि यद्देव चात्वालि ऽग्निरेष यच्चा-
 त्वालस्तथो ह्येनरेषो ऽग्निः सन्दहत्यथातः सम्पदेव *
 ॥ ४२ ॥

तदाहः । कथं मद्यैतच्छतरुद्रियं संवत्सरं
 मग्निं माप्नोति कथं संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यत
 ऽदिति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यैतच्छतरुद्रियं

मथ त्रिंशदथ पञ्चत्रिंशत्ततो यानि षष्टिश्च वीणि
 च शतानि तावन्ति संवत्सरस्याहानि तत् संवत्-
 सरस्याहान्याप्रोत्यथ यानि त्रिंशत्त्रिंशन् मासस्य
 रात्रयस्तन् मासस्य रात्रीराप्रोति तदुभयानि संवत्-
 सरस्याहोरात्राग्याप्रोत्यथ यानि पञ्चत्रिंशत्स त्रयो-
 दशो मासः स आत्मा त्रिंशदात्मा प्रतिष्ठा इ प्राणा
 इ शिर एव पञ्चत्रिंश मेतावान् वै संवत्सर एव मु-
 हास्यैतच्छतरुद्रियं संवत्सर मग्निमाप्रोत्येवुं संवत्-
 सरेणाग्निना सम्पद्यत ऽएतावत्य उ वै शागिडले
 ऽग्नी मध्यतो यजुषत्य इष्टका उपधीयन्त ऽग्नयो
 हैते पृथग् यदेता इष्टका एव मु हास्यैते ऽग्नयः
 पृथक् शतरुद्रियेणाभिहुता भवन्ति * ॥ ४३ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैतच्छतरुद्रियं महदुक्थं मा-
 प्रोति कथं महतोक्थं न सम्पद्यत ऽइति यान्य-
 मुनि पञ्चत्रिंशतिर्यजुष्यभितो ऽशीतीः स पञ्च-
 त्रिंश आत्मा यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरस्तत्

पञ्चपुष्कान्यथ या अशीतयः सैवाशीतीना माप्तिर-
 शीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते ऽथ यदृष्टं मशीतिभ्यो
 यदेवाद्गो महत उक्थस्योर्हं मशीतिभ्य एतदस्य तदेव
 मु हास्यतच्छतद्रियं महदुक्थमाप्नोत्येवं महतोक्थेन
 सम्पद्यते ॥ ४४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वार्गीशायाः सुमनसः सर्वाथाना मुपक्रमे ।

यं नत्या कृतकृत्याः स्यस्तं नमामि गजाननम् ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेष्वरम् ॥

त्रितीनामुपधानं हि काण्डेऽष्टम ऽउदीरितम् ।

अथान्निव्रवमे कर्म मच्चित्तस्याभिधास्यते ॥

“तत्रादा तावच्छतरुद्रियस्योर्म विधत्ते *—

“अथात इति ‘अथ’ शब्देनाथ चित्त्युपधाय परिसमाप्ता-
 नन्तर्यद्योत्पत्तेः अत इति यतः कारणात् मच्चित्तः अन्निरुप

शमप्रनोयः अतो हेतोः गतरुद्रिय मिति कर्मनामधेयं यथा
 अग्निहोत्रं जुहोतीति । 'गतरुद्रियं जुहोति' गतरुद्रायःस्य
 हामं भावयेदित्यर्थः । विहितोऽयं होमो रुद्ररूपतापन्नस्याग्नेरुप
 शमनार्थ इत्यह । 'अत्रैष' इत्यादिना तेनैतत् शमय-
 तात्यक्तेन अत्राग्निवसरे एषः 'अग्निः' साकथ्येन संस्कृती
 भयति । अतयामौ 'रुद्रो देवताः' यतः कारणाद्देवास्तस्मि-
 न्नैतच्चयननक्षणेन संस्कारेण निश्चय 'ममृतं' अतएवोक्तं रूपं
 'अदधुः' विस्रंसनात् प्राक् यदमृतं रूप मस्ति तस्य विस्रं-
 मनावसरे गतत्वादेव पुनरत्र चयनसंस्कारेणादधुः । तस्या
 दोषोऽग्निः 'दीप्यमानोव मिक्षमानो' तिष्ठन् इच्छमान इति
 व्यत्ययेन शानच् × × × तथाभिधानात् रुद्राद्देवा अनेनोपायेन
 नोऽयं हिंस्यादिति अविभयु रिति ॥ १ ॥

'ते' देवा 'अस्मै' रुद्राय 'अन्नं' सन्धराम तेनैतं शमयामिति
 परस्व मुक्ता तथैवाकार्षुः । 'शान्तदेवत्यं शान्तदेवतार्थं देवताशान्त्यर्थं
 मित्यर्थः । अतएव शमनार्थत्वात् तदन्नं शान्तदेवत्यं तच्च देवाः
 परोक्षकामत्वात् 'गतरुद्रिय' मित्यर्थः । तदन्न साध्यत्वात् कर्मापि
 तथैव व्यपदिश्यते । तथाच पूर्वं यथैव देवा अकार्षुः तथैवासावपि
 यजमानः तेन सहंशमितवान् भवति ॥ २ ॥

प्रकृते होमे द्रव्यविशेषं विधाय तस्य चोभयविधानात्मकत्वात्
 चयनसंस्कारे जात रुद्रदेवतोचित रूपत्वेन प्रशंसति— "जर्त्तिलै-
 र्जुहोमात्यादिना * 'जर्त्तिला' आरख्यतिलाः 'स एष' इति
 उत्पद्यमानस्य सर्वस्य सर्वाभोगार्थं मुत्पन्ने स एष अग्निः 'सर्वस्मा

अवाय जायते' सर्वाङ्गभोगार्थं जायत इत्यर्थः । साधारण्येन होम-
साधनतया जुहाः प्राप्तावपवाद माह ॥ ३ ॥

“अर्कं पणंति । अत्र 'मर्क' इति । अर्कस्य भोग्यं प्रपञ्चात्सः
पातित्वाद्ब्रह्मं जुहोतीति चोदितत्वेनाहवर्नाये होमि प्रसक्तावाह
परिश्रित्स्विति ३ । परिश्रित इति चिन्ताः परितो निक्षिप्ताः
क्षुद्रपाषाणा. तेष्वयं होमः कर्त्तव्यः । तेषां चाग्नेः परितः
अयणादग्नि तैनेता आहृतयोऽग्नि मत्स्येय प्रदेशे हुता भवन्ति ।
अत्र कात्यायनः - “गतकृद्रियहोम उत्तरपक्षस्या परस्या” सूत्र्यां
परिश्रितस्वर्कपणेनार्ककाहेन गतयनिति ॥ १ ॥” अर्ककाष्ठसु दण्ड-
स्थाने करणायम् ॥ ४. ५ ॥

अथ पुनस्तमित्रहोमं गतर्गोर्षस्य कृद्रस्येतरंघासु कृद्राणा मुत्-
पत्तिप्रकारं दृशेयन् तच्छ्रमनार्थतत्वेन प्रशंसति --- “यहंकेतदित्या-
दिना । 'प्रजापतिः' सकागात् विस्त्रंसनावसरे मर्यासु देवतासु
तिर्यग्गतास्वपि एक एव मन्यु' हं वस्तमपरित्वज्य तस्मिन्नेवान्तः
विस्तृतो तिष्ठन् पथात् स प्रजापति विस्त्रंसनात् अरोटीत्' रोद-
नाश्च ततो 'यान्यश्रुणि प्रास्कन्दन्' अपतत् सान्यस्तर्वर्त्तमाने
'मन्यो' प्रतिष्ठितान्यभूवन् ततः स 'मन्युः' गतर्गोर्षस्वादि गुणको
कृद्रोऽभूत् । अथ ततो ये अश्रुकणा जाता स्ते अनेके भृत्वा ३ः
पृथिव्यादि लोकान् 'प्राविशत्' “ततश्च ते अनेके 'कृद्राः' जाताः,

• 'प्रसक्तत्वाद्परिश्रित्स्विति'—इति अ .

† का० श्रौ० सू० १८. १. १

‡ 'कृद्राजनाः इति श्रु .

रोदनाच्च तेषां मुत्यन्तेः रुद्रत्वम् । 'यः' पुनः 'शतशीर्षा रुद्रः'
शतशीर्षा रुद्रोऽभूत् 'प्रतिहितायो' स प्रतिहितार्थं अभिमुखस्यायै
प्रजायै भयायै तत्रान् मिच्छन्तिष्ठत् ॥ ६ ॥

तस्माद्देवा अविभीत्वा * प्रजापतिं दृष्ट्वा ततोऽसम्भरणैः
शमयन्त्यपदेशं प्राप्य तथैवान् प्रतिष्ठत् । एतच्चान्नं शतशीर्ष-
रुद्रगमनार्थस्वाच्छतशीर्षरुद्रगमनार्थं तच्च परोक्षकामत्वाद्देवाः
शतरुद्रिय मिति व्याहरन्ति । अतो यथैव देवाः शतशीर्षं
शतरुद्रं शमयन्त्येवाय मपि यजमान एनं शतरुद्रियहोम-
लक्षणोपायेन शमितवान् भवति ॥ ७ ॥

तथैव होमद्रव्यान्तरम् त्रिधाय प्रशंसति -- "गवेधुकासक्तुभि-
रिति । गवेधुका आरण्या गोधुमाः तेषां पिष्टैः शतरुद्रियं
जुहुयात् । 'मा' प्रजापतिरूपा 'देवता' 'यत्र' यस्मिन् † प्रदेशे
'विस्त्रस्ताशयत' अशयदिति शेतर्लुडि व्यत्ययेन परस्मैपदशाब्धि-
करणे च रूपं, 'ततः' प्रदेशात् गवेधुका जाताः । अतस्तेर्होम-
सम्पादनं स्वचभागं तस्यैयार्थप्रदर्शनम् । "स्वनं रमनेति । स्वकीयेन
रक्षेन् येन भागनेनं प्रीणितवान् भवति । अत्र जत्तिलैर्जुहोति
गवेधुकासक्तुभिर्जुहोतीति पृथगेव विहितत्वाद्द्रव्यविकल्पः । अत-
एवापस्तम्बेन सूचितम्, — "शतरुद्रियं जुहोति जत्तिलयवाग्वा
गवोधुकयवाग्वा जत्तिलैर्गवोधुकसक्तुभिः कुसयसर्पिषाजाक्षीरेण
सृगोक्षीरेणवेति ‡ । यत्पुनरुक्तं कात्यायनेन, — "जत्तिलमिश्रान्

* 'अविभीत्वा' इति ज ।

† 'होमभयस्मिन् प्रदेशे' इति झ

‡ व्या० श्रौ० सू० १७ ११. ३

गवेधुकामकृन्" * — इतीति समुच्चयेनेतच्छाखास्तगामुसारेणीक
मित्यवगन्तव्यम् ॥ ८ ॥

अर्कपर्णेन जुहोत्यसकर्म इत्यनेनैवार्कपर्णं होममाधनस्वेन
त्रिहितम् । पुनरपि प्रकारान्तरं स्तौति - "अर्कपर्णेनेति ।
आशयो हृदयदेशः ॥ ९ ॥

अर्कपर्णवदेव परिश्रितोऽपि प्रकारान्तरं स्तौति—

"परिश्रितजुहोतीति । 'लोमानि' देहं 'परिश्रितः' श्रयन्ति
परिश्रितोप्यग्निं परितः श्रयन्तीति लोमानि 'लोमसु'
विषवास्ति लोमसु विष संस्पृष्टेष्वपि बाधाभावात् । अतश्च
लोमात्मकेषु परिश्रिते, होमाद्द्रोपि न किञ्चनापि वसु हिं-
स्ति । "एतस्यां हृदिश्येत्यस्यत्याटिकस्याय मर्धः— एतस्य
देवस्य रुद्रस्य गृहादुत्तरस्यां दिशि भवन्ति । तस्या दिश्या
न हिंस्यात्मकत्वात् । अत एतदुत्तरार्धहोमेन स्वस्या मेव (!)
दिशि एनं रुद्रं प्रीणाति स्वस्या मेव तंमययजतं पृथक्
करोति ॥ १० ॥

म वा अशीत्याश्च स्वाहा करोतीत्यादिना तिसृष्वपिशीतिषु
स्वाहाकारः क्रियते ऽइत्युपरिष्ठाद्व्यते तत्र कस्मिन् प्रदेशे
स्वाहाकार इति तच्चाह— "म वै जानुदघ्न ऽइति । 'जानु-
दघ्ने' जानुप्रमाण प्रदेशे सोऽध्वर्युः प्रथमं स्वाहाकरोति । तथा
सति देशस्याधोदेशत्वादधस्यानां पृथिवीं प्रविष्टान् रुद्रानितंम
प्रीणाति ॥ ११ ॥

एवं 'नाभिददघ्न' 'मुखदघ्न' च । स्वाहाकारणात्तरिक्तगताद्यु-
लोकं गतांयरुद्रान् प्रीणितवान् भवति । लोकत्रयेपि पतिता अशु-
कणाः समञ्जता रुद्राः समभवदिति प्रागुक्तम् । अथ या अन्या *
इत्यादिना स्वाहाकारस्य इतिर्नक्षणावप्रदानमाधनत्वेनावस्वात्तेन
होमविधानेन एतान् रुद्राननेन प्रीणितवान् भवतीत्याह—
“स्वाहाकारेति ॥ १२, १३ ॥

अथ प्रथमानुवाक्यस्य प्रथमा मृचं व्याख्ये— “नमस्त
इति । अस्मिन् प्रजापते स प्रागुक्तोयमेव 'मन्युर्विततोऽतिष्ठत्' ।
'तस्मा' एवमेतन्नमस्करोति । यद्यप्यत्र मन्युरेव शतशीर्षी रुद्राः
समभवत् इति मन्युरेव रुद्रः समभवदिति मन्यु रेव रुद्रः
तथापि 'रुद्र'-शब्देनात्र तदाधारत्वेनाभेदात् प्रजापति रुच्यते ।
'इषवे वाहुभ्यां नम' इति । तैरेव 'भीषयमाणो ऽतिष्ठत्'
इति । तैभ्य एव नमस्कारं करोति । मन्युरेव शतशीर्षी रुद्रो
भूत्वा इषुणा वाहुभ्यां सर्वेषां भय मुत्पादयामसिति तत्रिवन्धन
भयपरिहाराय तैभ्यः सर्वेभ्यो नमस्कारः क्रियते ॥ १४ ॥

“स एष स * मित्यादिकम्याय मर्थः— प्रजापते रोदनावसरे
'स' मन्युरूपो यो देवः † शतशीर्षी रुद्रो ऽभूत् स एव देवः स्रुतं
'विप्रुङ्भ्यो' ये जाता स्त इतरे 'विशः' ततश्च एता विशः 'तस्मै
स्रुवायै' य एव प्रथमोऽनुवाक एतं पुरस्तादुद्धारं भाग मकुर्वन् ।

* 'शम्या' इति ज ।

† 'मन्युरुभयंविशः'— इति ज

तत्र च भागेनैकं रुद्रं प्रीणितवन्तः । यथा लोके प्रजा राज्ञाभागं
प्रदाय प्रीणयन्ति तद्वत् ।

अतो यजमानोऽपि तथैव तस्य प्रथमानुवाकलक्षणं भागं
कृत्वा तेनैव तर्पयति । प्रथमानुवाकस्य पुरस्तात् उच्चारः
कुतः अत एकदेवत्यः तदेव प्रदर्शितं रीद्र इति ॥ १५ ॥

प्रथमानुवाके षोडश मन्त्राः तत्र चतुर्दश मन्त्रानवयत्य
स्तीति— “चतुर्दशैतान्नाति । अधिमासेन सङ्ग ‘त्रयोदशमासाः
संवत्सरः प्रजापतिश्चतुर्दशः’ चतुर्दशमन्त्रापूर्वकः स पुनः प्रजापति
रनन्यात्मकः । ततोऽग्निरपि चतुर्दशः तथा वाग्निर्यत्परि-
माणकः अस्य च तादृशोऽपि तत्परिमाणकः तत् परिमाण-
नैवासेनान्यात्मकं रुद्रं प्रीणाति । चतुर्दशमन्त्रमाध्यह्नोमस्त-
त्रोनासेनान्यात्मकं रुद्रं कात्स्न्येन प्रीणातीत्यर्थः । मन्त्रे पौनः
पुण्यं नमः शब्दः प्रयुज्यते स च पूजावचनत्वेन यज्ञात्मकः, तस्य
‘नमोनम इति’ । अनेन यज्ञरूपेणैव नमस्कारेणैव पूजितवान्
भवतात्याह— “नमोनम इति । नमस्यतीति नमोऽग्निरिवष्टिचं
क्वचित्प्यत्र नमसः पूजाया मिति वचनात् पूजार्थं क्यच् प्रत्ययः ।
तस्मादुहति यस्मात्नमः शब्दो यज्ञः तस्मात्नमस्त इत्यतदयज्ञियं न
ब्रूयात् । किन्तु ‘यज्ञियं’ यज्ञकर्माह मेव ब्रूयात् तस्य एनं
रुद्रं ‘यज्ञस्त इति’ यथा ब्रूयात् नमस्त इत्यपि तद्देवोक्तं
भवति ॥ १६ ॥

अथ इन्द्रिभ्यो होमं विधत्ते “अथिति । “नमो हिरण्यवाहव
ऽइत्यादिषु मन्त्रेषु प्रतिपाद्या देवता इन्द्रितः तत्र इन्द्रोऽह्यो इन्द्र-

तयोः प्रतिपादनात् 'दिशाश्च पतये नम' इत्येतद्विरण्यबाह्वे सेना-
 न्य ऽइत्येतयो विंशोपणम् । एव मुत्तरचापि एकैकस्य विंशो-
 पणाण् यत् इयोदंयतयो * प्रतिपादनं भवति । अमुष्मैचामुष्मैवेति
 'नमो हिरण्यबाह्वय' इत्यादि इन्द्रिमा निर्देशः, यथा लोके 'अमी
 त्व' च एष च उभावपि नो 'मा हिंसिष्ट' मिति जनो ब्रूयात् एव
 मेवायुष्मा अमुष्मा इत्यपि नाभिहितं भवति । लोके 'अमी त्वं च
 एष च नो मा हिंसिष्ट मित्येव' मभिधानस्य प्रयोजनं दर्शयति ।
 'विदितो' जातो जम 'आमन्वितः' सन् 'नतरां हिनस्ति' । ततश्च
 प्रकृतंऽपि तद्देवाभिधानात् रुद्रो हिनस्तीति भावः । ततो नैव
 इन्द्रिनो दर्शयति— "नमो हिरण्यबाह्वे" इति । 'एष एव'
 रुद्र एव 'हिरण्यबाहुः सेनानीः' दिशाम्यतिष्ठ । अत उक्तो
 मन्त्रे 'नमो हिरण्यबाह्वय' इति प्रथमानुवाकः शतशीर्षरुद्रो
 दैवत्यः । द्वितीयाद्यनुवाका इतररुद्रदेवत्याः । तत्रापि 'यत्किञ्चा-
 त्कैकदेवत्यं' तदपि शतशीर्षरुद्रस्येत्याह । "यत्किञ्चेति । अत्रापि
 द्वितीयाद्यनुवाकेष्वपि यत्किञ्चैकदेवत्य मेकवचनात्समन्वसाध्य-
 होमलक्षणमत्र मस्ति तेनापि एत मेव रुद्रं प्रोणाति । 'ते'
 तव 'स एष क्षत्रं देवः' † 'विश इमे ये इतर' ‡ इति उक्त-
 त्वात् । प्रजाया मपि तं क्षत्रभाजनं करोति । तस्मान्नोकेऽपि
 प्रजाया यदत्र मस्ति, तत्रापि क्षत्रिय सम्बन्धो भागो विद्यते ।
 वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्य इत्यादि बहुवचनात्समन्वप्रतिपादिताभ्यो

* "इयोरिवदेवतयोः"—इति अ०

†, ‡ पुरस्तादिहैव १५ कण्ठी. पृ० ५. प० ६. १० ।

याभ्यो देवताभ्य एतद्दोमं करोति, ताः पृथिव्यादि लोकात् प्रविष्टा विप्रुङ्भ्यो जाता अनिका रुद्र देवताः बहुवचनान्तमन्त्र-साध्यो होमोऽपि विप्रुङ्गानां रुद्राणा मित्यर्थः ॥ १७, १८ ॥

इन्द्रिहोमानन्तरम् 'जातभ्यां' जुहुयादित्याह— "अथेति नमः सभाभ्यः सभापतिभ्य इत्यादि प्रतिपादितानि इन्द्रिविशेष-भूतान्येवजातानि एतानि खलु जातान्येतरुद्राः प्रविष्टिणः । तत्र तत्रैवैतान् प्रीणाति । किञ्चैवं 'एतानि रुद्राणां जातानि' खलु देवताविधानं प्रकार मनुसृत्य मनुष्या भवन्ति । तस्मा-देतानि मनुष्याणा मपि जातानि । अतो मनुष्यजातभ्यो एव होमे सति देवजातभ्योऽपि स्यादिति जाते एव तान् रुद्रान् प्रीणाति ॥ १९ ॥

तेषां मन्त्राणां मध्ये केचन उभयतो नमस्काराः, केचनान्य-तरतो नमस्कारा इति । तद्वैषम्यं कारणमाह— "तेषां वा इति । अन्यत्र सर्वत्र होमे प्रतिमन्त्रद्रव्यप्रक्षेपे स्वाहाकार इत्यत्रापि तथैव प्रामावावाह ॥ २० ॥

"स वा इति । स मन्त्र मध्वर्यु मन्त्राणा 'मर्गात्यां' सकृत् 'स्वाहा करोति' । 'प्रथमेऽनुवाके च' सकृत् स्वाहा करोति । अथ पुनरर्गात्यां तथैवाक्षरचार्गात्याश्च तत्र प्रथमानुवाक्ये षोडश-मन्त्राः । तेषां सर्वेषा मन्त्रे सकृत् स्वाहाकारः । अथ 'नमो हिरण्यवाहव' इत्यारभ्य 'अर्भकेश्वो नमः' इत्यन्त मेका अर्गीतिः सम्पद्यते । एकैकस्यां कण्डिकाया मष्टावष्टौ मन्त्राः । 'दिशां च

पतये नमः' इत्यादिकं विशेषणतया सम्बन्धीय मिति प्रागे-
 वोक्तम् * । तथा च दशसु कण्डिकासु मन्त्राणा मशीतिः सम्पद्यते
 'नम स्तत्रभ्य' इत्यारभ्य 'सुधन्वने'† चेत्यन्तं एका अशीतिः सम्प-
 द्यते । पुन 'नमः सुस्थाच' इत्यारभ्य 'धनुष्कृद्गाय वो नमः‡' इत्येत-
 मेका अशीतिः सम्पद्यते । एतस्या अशीत्या ऊर्द्धा अवदानमन्त्रेभ्यः
 पूर्वाणि च यजुषि मन्त्रि । एतदोत्तरत्र विनियोगाय प्रति-
 निर्दिष्टं निर्दिष्टं 'अशाशीत्या च स्वाहा करोति', यानि 'चोर्द्धानि'
 वेति यदुभय निर्दिष्टं तत्राशीतिः प्रशंसति — "अत्र मशीतय
 इति अशीति शब्देः अशिधातुः स्मरणादस्मत्यर्थतमास्तीतिषु
 स्वाहाकारे अनेवैमान् रुद्रान् प्रीणाति ॥ २२ ॥

अथ यानि चेति निर्दिष्टानां विनियोग माह— "अथैता-
 नीति । "एतद्वास्येत्पुदिकस्याय मर्थः— 'यथा प्रियः पुत्रो वा
 हृदयं वा' 'प्रतिज्ञातम' अभिमतं 'धाम' स्थानं तददेतत् मन्त्र-
 चतुष्टय मपि 'प्रियं धाम तस्माद्यचैतस्माद्देयाच्छ्रुत' शङ्कितो
 भवति तत्रैतामि र्थाहृतिभिर्जुहुयात् । तथा चैतस्य रुद्रस्य प्रियं
 धामैव प्राप्नोतीति स देव पश्चादेनं न हिनस्तीति ॥ २२ ॥

मन्त्रान् क्रमेण व्याचष्टे— "नमो वः किरिकेभ्य इति § एते
 हि रुद्रा इदं सर्वं मपि जगत् कुर्वन्ति । एतेषां प्रजापत्यशुक्ल-

* इहेव पुरस्तात् १८ कण्ठी, पृ० ६, पं० १० ।

† वा० सं० १६. २७—३६ ।

‡ वा० सं० १६. ३७—४६ क ।

§ वा० सं० १६. ४६ ख ।

निष्पन्नत्वेन प्रजापत्यात्मकत्वात् । अत एते 'किरिकाः' कर्त्तारः
 ततस्तादृशेभ्यो वो नमोऽस्त्विति मन्वार्थः । "अग्निर्वायु रिति ।
 'अग्निर्वायुरादित्य' इत्येतानि 'देवानां हृदयानि' यथा हृदयं
 प्रधानं तद्वदेतेऽपि प्रधानानीत्यर्थः । अतस्तदात्मकेभ्यो रुद्रेभ्यो
 नम इत्यर्थः । अत्राग्निर्वायुरादित्यप्रकाशमन्वसाहित्येनैतेषां
 मन्वाणां व्याहृतिशब्देनाभिधानं ; किञ्चाग्निर्वायुसूर्यादेवानां
 हृदयानीति तत् प्रकाशकानां अपि मन्वाणां हृदयत्वं तस्मा-
 त्तदभिप्रायेण 'एतद्वायु प्रतिघातमं धाम वा' यथा प्रियो वा
 पुत्रो हृदयं इत्युक्तं * विचिन्वन्त एव विचिन्वत्काः ; एते हि
 रुद्रा इदं सर्वं विचिन्वन्त्यभ्यवहारायार्थम् । अतस्तात् परिहाराय
 तेभ्यो नम इत्याह । विचिन्वन्त एव विचिन्वत्काः एते रुद्रा
 यं विच्छिणं कर्त्तुं मिच्छन्ति तं विच्छिणवन्ति । अतश्च तेभ्यो नम
 इत्याहार्जिजत्रय इत्यस्य व्यत्ययेन आप्रत्यये रूपम् । "एतेर्हीति ।
 'एते' हि रुद्रा एभ्यः' पृथिव्यादिभोकेभ्यो 'निर्हता' निर्गताः ।
 तत्र विशाणोभ्योऽशुकणेभ्य अत 'पानिर्हतेभ्यो' रुद्रेभ्यो नम
 इत्याह ॥ २३ ॥

व्याहृतिजपानस्तर एव मुक्तराणि यजुंषि जपेदित्याह "अर्थति ।
 तत्र प्रथमं मन्वं व्याचष्टे—“एष वा इति । 'यं' जनं 'दिद्रापयिषति
 कुत्सितं कर्त्तुं मिच्छति । तं तथा करोति † । अतएव 'एष'
 रुद्रो द्रापे ऽचम्यः' शब्देन सोममक्षण मन्वं विवक्षितमित्याह.

* पुरस्तात् इदं २० कर्त्तुं, पृ० ७, पं० १५ ।

† 'तं तथैव करोति'—इति भ ।

— “सोमस्येति । ‘दरिद्रमोलरोहितेति’ एतान्येतस्य रुद्रस्य
‘नामानि च रूपाणि’ च भवन्तीति । तस्य नाम गृहीत्वैवेनं
रुद्रं प्रीणितवान् भवतीत्याह ‘दरिद्रेति’ । ‘घासां प्रजाना मेषां
पशून्स’ मित्येष भागस्तु स्पष्टार्थ इत्याह । “यथैवेति । अस-
ङ्गातरुद्ररूपविशं शतशीर्षरुद्ररूपाय चत्वाय प्रथमानुवाक्यम् ।
पुरस्तादुद्धारमुदहरन् ‘अथ द्रापे ऽपथ्य मस्यत’ * इत्येव मनुवाक
मुपरिष्ठादुद्धार मुदृत्य त मप्रीणत् । तथैव यजमानोप्यन्तदनुवाक-
जपेन कृतवान् भवतीत्याह ॥ २४ ॥

“स एष इत्यादिना । यतोऽस्य रुद्रस्यैकोऽनुवाक उद्धारः कृतः
तस्मात् स रुद्रैकदेवस्य इत्याह— “तस्मादिति । एतस्मिन्ननुवाके
यजुर्गता समत्वसङ्गाकात्स्न्येन तृप्तिर्हेतु भवतीत्याह ॥ २५ ॥

“सप्तैतानोति । ‘सप्तचित्तिकोऽग्निः’ इत्यनेनैकेन प्रकारेणाम्नेः
समत्वसङ्गा सख्यम् उक्तः । ‘सप्तऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो
ऽग्निः’ इत्यनेन प्रकारेण समत्वसङ्गायोगित्वं प्रदर्शयते । अधि-
मासापेक्षया संवत्सरं सप्तऽर्त्तवो भवन्ति । प्रथमानुवाके एत-
स्मिन्ननुवाके च मिलिताया यजुःसङ्गास्त्वित्यपौदानो प्रशं-
सति ;— “तान्युभयानोति । चतुर्दशैतानि यजूषि भवन्तीति ।
तत्रोक्तत्वाप्तानि चतुर्दश अचत्थानि सप्त च मिलित्वा उभय-
न्यपि एकविंशतिः सम्पद्यते । सा चैकविंशति सङ्गा ‘हादश
मासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश’ इति ।

यैषा सङ्घासम्पत्तिस्तौ मभिसन्धय भवति, तथाविधा सङ्घा-
सम्पत्तिरत्र सम्पादिता भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथावतानास्थान् होमान् कुर्यादित्याह *,— “अथेति ।
सहस्राणि सहस्रग इत्यादि मन्त्रस्थाध्या होमा अवतानाः ;
तेषामवतानान्तं अवरोहन्ते धनुष्येभिरित्युपविंश इति तत्
सङ्घा । तेषा मुक्त होमे वाचं प्रयोजनतया दर्शयति— “एतदा
धनुष्यवातन्वन्ति चारोपितानि धनुष्यवरोपितवन्त इत्यर्थः । न
ह्यवततेत्यनेनावरोपणस्य प्रयोजनं दर्शितम् ॥ २७ ॥

मन्त्रेषु सहस्रयोजनस्यादग्निहोमेन पदप्रयोगात् परमे दूरे †
धनुषा मवरोपणं कृतं भवतीत्याह— तदा इति । “अथाग्नेः
सह प्रयोजनत्वादग्नि होमेन ‡: सहस्रयोजन एव धनुषा मव-
रोपणं सम्पादितवान् भवतीत्याह ॥ २८ ॥

“यद्वेति । अथ अग्निः सहस्रयोजन इत्येतद्वोपपाद्यते ।
न ह्येतस्मिन् एतद्व्यतिरिक्त मन्त्रत् किञ्चिदपि च पुनरसाधकं
नास्ति (?) । तस्याग्नेः प्राद्यत्यात्मकत्वेन सर्वाधिकत्वात् । अत-
स्याग्ने सहस्रयोजनत्वेन तत्र होमे सहस्रयोजन एव धनुषा मव-
रोपणं सम्पादितवान् भवति ॥ २९ ॥

मन्त्र 'अमंस्याता सहस्राणि । अस्मिन् महत्यर्धव

* “अथावतानास्थान् होमा अवतानाः । तेषामवतानान्तं धनु-
कुर्यादित्याह”—इति भ, अ ।

† ‘परमे धूर धनुषा मवरोपणं कृतं भवतीत्याह’—इति भ, अ ।

‡ ‘सहस्राद्यौ होमेनः’ इति अ ।

इत्येतत् पटप्रयोगस्याभिप्राय माह — “असङ्घाता इति ।
‘यत्र यत्र’ स्यान् एतं भवन्ति तत्र तत्रैव तेषां मेतेन
धनुषावरोपयति । ‘अक्षैवः’ शब्देन पृथिव्यादयो लोका विव-
क्ष्यन्ते । तस्य च महतीत्यनेन कार्त्स्न्यं विवक्ष्यते । एवं च
पृथिव्यादिमोक्षेषु सर्वत्र ‘असङ्घाता सहस्राणि’ अपरिमित
सहस्रसङ्घाता एतं रुद्रा अवतिष्ठन्ते । तेषां सर्वेषां मेत्र धनुषा
मवरोपणं सिध्यतीति ॥ ३० ॥

उक्तां विहितानां भवतानानां होमानां सङ्घाविशेषं विधाय
प्रशंसति — “दशैतान्यतानान् जुहोतीति । ‘विंशतिरिति
षष्टिश्चोषि च शतानि यजुषस्त्य इष्टका उपधीयन्ते । ताश्च
षड्विंशद्दशकानि भदन्ति । अतश्चैवं दशसङ्घायोगादग्ने विंशद्
ऊर्ध्वो दिग्भ्यां सह * दिशां दशत्वम् । अग्नेसु दिगात्म-
कत्वं सर्वदिग् व्यापकत्वात् मुखे सप्त प्राणाः, अधो पायूपस्थी ही-
नाभि ईशम इति ‘दश प्राणाः’ । प्राणानाञ्च सूत्रात्मकत्वादग्निः
प्राणात्मकः एवञ्च सत्यशतानां दशत्वेनाग्नेयात्मकानां रुद्राणां
यावत्परिमाणं तावत्तैवेनानि धनूंश्चवरोपयति । साकल्येन सर्वेषां
चतुरवरोपणं कृतं भवतीति भावः ॥ ३१ ॥

अवतानहोमानन्तरं प्रत्यवरोहान् जुहुयात् इत्याह —
“अथेति ‘नमोऽसु रुद्रेभ्य’ †” इत्यादि मन्त्रसाध्याहोमाः प्रत्य-

* ‘ऊर्ध्वो दिग्भिः सह’ इति भ. अ.

† वा० सं० १.६. ६४--६

त्रोहाः, तान् कुर्यादित्यर्थः । तेषां मृपयोग माह,— “एतदा इति । एतस्मिन् काले खलु एतेन होमेन ‘इमान्’ पृथिश्वादीन् ‘लोकानित’ ‘जर्ही’ भूत्वा ‘रोहति’ ‘स’ यजमानः ‘एतदा इत्यनेन बुद्धिस्तः कालः परामृश्यते * एव इति च जान्वादि-प्रमाणेषु कृते होमः अतश्च ‘स रोहः पराडिव’ भवति । तदा-रोहणमाणा पृथक्त्वा तथैवोर्ध्वं मेव भवतीत्यर्थः । अतश्च ‘देवाः’ अस्या पृथिश्वाः प्रतिष्ठात्मकत्वात् ‘इमां प्रतिष्ठाः’ प्रत्यागतवन्तः । अथो यथैव देवाः प्रत्यागतवन्तः तथैवायं यजमानोऽप्येतन् प्रत्य-वरोहहोमनेत्यां प्रतिष्ठात्मिकां पृथिवीं प्रत्येति, प्रकारान्तरेण प्रत्यवरोहान् प्रशंसति ॥ ३२ ॥

“यद्देवेति । एतस्मिन् खलु काले एतेन जान्वादिषु प्रमा-णेषु कृतेन होमेन ‘एतत्’ रुद्रं ‘प्रीणन्’ अनुगच्छति यज-मानः । अथैतेन प्रत्यवरोहणेन त एव रुद्रेभ्य ‘पात्मनं’ जीवन्मये पृथक् करोति । तथा सत्यनेनेदानीं क्रियमाणेन ‘एवात्मना’ शरीरेण ‘सर्वं मायुरेति’ ॥ ३३ ॥

अथ पुनरपि केनचित्प्रकारेण तानेव स्तौति— “यद्देवेति । पूर्वं जान्वादिप्रमाणेषु कृतेन होमेन ‘इतं जर्हीन् रुद्रान् प्रीणाति’ । पूर्वं पृथिश्वादि लोकत्रयानुप्रविष्टान् रुद्रान् पृथिवीं मारभ्य द्युलोकपर्यन्तं प्रीणाति । इदानीं द्युलोकं मारभ्य पृथिवीपर्यन्तं प्रीणातीत्यर्थः । अतएव सूत्रे प्रतिशोभं “प्रत्य-

* ‘बुद्धिस्तः कालः मृश्यते’ इति ज ।

वरोहान् जुहोति" * इत्युक्तम् । प्रतिनोम्यञ्च प्रथमं सुखप्रमाणे
पथाञ्जानुप्रमाणे † होमः ॥ ३४ ॥

अथ प्रत्यवरोहान् प्रदर्शनं व्याचष्टे— “नमोऽस्त्रित्या-
दिना । ‘नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये द्विवीति’, ‡ अनेन द्युलोकस्येभ्यो
रुद्रेभ्यो नमस्कारः कृतो भवति । तत्रत्याश्च रुद्रायं हिंसितुं
सं ‘वर्षेण हिंसन्ति’ । अतश्च ‘तेषां वो वयं खलु अत उक्तं
मन्त्रे,— ‘येषां वर्षमिषव इति’ । तेभ्यो दश प्राचीरित्या-
दिक् स्तु मन्त्रभागस्त्रयाणा मपि समा इत्युत्तरत्र सक्तदेव व्याख्या-
स्यत इति ॥ ३५ ॥

द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे — “नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये ऽन्तरिक्ष
ऽइति § । स्पष्टार्थ इति ॥ ३६ ॥

अन्यत् मन्त्रत्रय साधारणम् ॥ ३७ ॥

“तेभ्यो दशेत्यादिके मन्त्रशेषे पौनः पुन्येन ‘दश’-शब्द
प्रयोगस्याभिमाह — “दशदशेति । ‘दशाक्षरा विराडि’-कस्तु
प्रागेव व्याख्यातम् † पूर्वदश प्राचीर्दश दक्षिणेत्यादौ सङ्ख्येयम्
दिग्विशेषं च पर्यालोच्य सङ्ख्या मात्र मुपजीव्य प्रशंसति ॥ ३८ ॥

* का० श्रौ० सू० १८. १. ५ ।

† ‘प्रतिनोम्यञ्च प्रथमं सुखप्रमाणे ततो नाभिमात्रे पुनर्जानुमात्र
ऽइति ।’ का० श्रौ० सू० १८. १. ६ ।

‡ वा० सं० १६. ६४ ।

§ वा० सं० १६. ६५ ।

|| वा० सं० १६. ५६ ।

¶ “दशाक्षरा वै विराट्” - इति पुरस्तात् १ का० १ व्य० १ ब्रा०
२२ कर्त्वी द्रष्टव्यम्

“इदानीं तत् सर्वं मुपजीष्य प्रशंसति— “यहेवाहेति । पुटोक्तं करहय मञ्जुनिरित्युच्यते । तस्य 'वा ऽपञ्जलेरङ्गुलयो दश' भवन्ति । प्रत्येकं हस्तयोः पञ्चाङ्गुलीनां भावात् । तथा च सति प्राचीरित्यादिना मन्त्रभागेन तेभ्यो 'पञ्चमिं' करोति * । होमावसरे तेभ्यो दश प्राचीरित्यादिना मन्त्रभागेन तेभ्यो रुद्रेभ्यः प्राणादि मुखादयः दशाङ्गुलयः कृत इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनात् प्रतिदिश्येभ्यो रुद्रेभ्यो पञ्चमिं करोति । होमावसरे तेभ्यो दशप्राचीरित्यादि मन्त्रभागकथनेनैव तत्र तत्र दिशि वर्त्तमानेभ्यो रुद्रेभ्यो ऽपञ्चमिं कृतवान् भवतीत्यर्थः । “तस्मादु हेतद् इत्यञ्जनिकरणस्य कारणम् प्रदर्श्यते । 'तस्माद्भोतः सवेतेनाञ्जलिं करोतीति अथवा एमं व्याख्यातम् । यतोऽसौ यजमानाभ्वर्युः मुखेन रुद्रेभ्यो भीतः सन् उक्तवान् । तस्मादेतस्मिन् लोकेऽपि जनः भीतो ऽपञ्चमिं करोतीति । “तेभ्यो नमो ऽपस्वित्याद्ययगिष्टमीचभागप्रयोगस्योपयोग माह,— “तेभ्यो नम इत्यादिना । 'त एवेति' ; त एव रुद्रा 'असौ' यजमानाय 'सुडयन्ति' सुखयन्ति । असौ यजमानोऽयमेव . पुरुषं 'हेष्टि', यो वै नं यजमानं हेष्टि 'त मेधां' रुद्राणां 'जम्भे' मुखे निदधातीत्यर्थः । त मेधां जम्भे दध इत्यत्र तमिन्मस्य स्थाने अमु मिति प्रयुञ्जगादिति कस्यचिन्नतं पूर्वपक्षयितु माह— “अमु मेधा मिति । यं पुरुषं द्विषन्ति तम् । 'अमु मेधां जम्भे दधः' इति ब्रूयात् । अमु मिति तवामनिर्द्देशः ।

* “पूजाक्रमेण प्रसृत्य पाणी देवान् पूजयन्ति”—निरु० २. ७. ४ ।

ततश्च तस्मिन् द्विष्यमाणेषु युनर्नकिञ्चिदप्यस्ति म्रियतेत्यर्थः ।
उत्पन्न्यस्तं मतं निराचष्टे ; अपोति तदुक्तं मतं नाद्रियेते-
त्यपि कथं तस्य वध्यस्य निहंगः मेत्यतीति तत्राह स्वयं मिति
यं पुरुषं एवं यं द्विष्य इति विद्मष्टि स स्वयं मेव निर्दिष्टो
भवति । नामधेयपदद्वयं तद्विहंगमिध्यर्थं भवति स च निहंगो यं
द्विष्यो यद्य नो द्विष्टि त मेवा मित्यभिधानादेव सिद्ध इति तथा
न कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ प्रत्यवरोहान् जुहोतीति सामान्यं विधानात्
सङ्ख्याविशेषं पर्यवमानं मभिधत्ते । “त्रिष्कृत्व इति । सा
चिद्य सङ्ख्या रुद्राणां साकान्येन वृत्तिहेतु भवतीत्याह,— “त्रिहृ-
दिति । अस्मेषु त्रिहृदिति अस्मिन् ‘त्रिहृत्’ प्रकारः, षष्ठकाण्डे
ऽभिहितः * । ‘अम्बिर्यावान् अस्य च मात्रा’ यावती तावतैवैना
नेतदस्मिन्मन्यात्सकान् रुद्रान् प्रीणितवान् भवति । मन्वास्ते
स्वाहाकारान्तप्रदानमाधनत्वादस्वरूपेण प्रशंसति, स्वाहाकार-
न्वति । अरोहणां प्रत्यवरोहणाच्च मिनिता सङ्ख्यां प्रशंसति ।
त्रिरिति इति जान्वादि मुखान्तेषु त्रिषु प्रमाणेषु होमकरणा-
दित ऊर्ध्वं त्रिःकृत्वो रोहत्विति पुनश्च त्रिःकृत्वः प्रत्यवरोहति
तथा सति षट्सङ्ख्या सम्पद्यते । तस्याह वाच्यम् ‘षड्वा ऋतवः’
इत्यादिना प्राग्विधेयं † मित्यर्थः ॥ ४० ॥

प्रकारान्तरेणापि त्रित्वं सङ्ख्यां मुपपादयति— “यद्देवेति ।

* इहेव ६ का० ३ अ० १ ब्रा० २५ कण्ठी ।

† इहेयं पुरस्तात् ४ काः ५ अ० ५ ब्रा० १० कण्ठी ।

‘त्रिःछत्सु’ उर्ध्वं मारोहणकृता तदनुसारेण त्रिःछत्सा एव प्रत्य-
वरोहणं कृतं भवति । उपपन्नं चेत्, नीचेष्णुनातिरेकघातः,
अस्येवं, किं तत इति चेत्, मैमश्नुनस्वेवापर्याप्तत्वानतिरेके-
वाधिश्चाप्यथा पूर्वं मवस्थानं न सुलभ मिति । चारोह सङ्गानु-
सारेणैव प्रत्यवरोहेत् सुलभ मितिचैव सङ्गोचितत्वार्थः ॥ ४१ ॥

उक्त होमानन्तरं तदोमिताधन ‘मर्कपर्वं चात्वाले’ पश्चिपे-
दित्वाह— “अथेति । चात्वालपक्षेपस्य कारण माह—
“एतदा इति । एतस्मिन् काले काल ‘एतेमार्कपर्वेनेतद्दीर्घ-
कर्म करोति’ । अतश्च ‘एतद्’ पर्वं ‘मयान्तं’ भवति ।
तदिदं मयान्तं पर्वं कश्चिदपि नाभितिष्ठेत् । तच्च न किमपि
द्विमस्थिति । तदेतत् पर्वं ततः करोति व्यवहितं करोति ।
चात्वालस्य गर्तत्वादित्यर्थः । अथ पुनरपि तत्रैव पक्षेप सुप-
पादयति । “यद्वेति । चात्वालाम्याधिष्ठास्येनास्मि तच्च
पश्चिमं तद्वर्कपर्वं ‘एष’ चात्वालरूपोऽग्निः । ‘सन्दहति’ सम्यग्-
दहति ॥ ४२ ॥

इत्थं गतवृद्धिय होम मभिधायेदानीं तस्य सम्यत्वभिधानं
प्रतिजानीते । [अथातः सम्यदेवेन सम्यत् सम्यत्तिः केनचित् प्रका-
रेण सादृश्यं सम्यादनम्] * । यतः कारणात् कर्मानुष्ठानावसरे
सम्यत्तिरनुसन्धातव्या । अतः कारणात् सां सम्यदेवाभिधानस्यत
इत्यर्थः । एवकारिणात्र होमकरणप्रकारस्य कारणेन विधानं
सूचते सम्यदेव प्रदर्शने, न पुनर्होमकरण प्रकारः । तस्य

सर्वस्याभिहितत्वादिति । ता मेव सम्यत्तिः पञ्चोत्तराभ्यां
दर्शयति— “तदाहु इत्यादिना । तत् तत्र शतरुद्रियविषये
‘अस्य’ यजमानस्य एतच्छतरुद्रियं कथं संवत्सरात्मकं मन्त्रं
प्राप्नोति । ‘कथं च तेन ‘सम्यक्षते’ सदृशो भवतीत्याहु र्याञ्चिकाः ।
एतस्यांत्तरं ‘षष्टिश्च इ वा’ इत्यादि । एतच्छतरुद्रियं षड्युत्तराणि
चाणि गतानि यजुषि । पञ्चात्रिंशत् ततः पञ्चत्रिंशदिति । तत्र याच
यानि षड्युत्तराणि चाणि च गतानि संवत्सरस्याहान्यपि तावन्ति
सम्भवन्ति । ततस्तैः संवत्सरस्याहानि प्राप्नोति । ‘अथ यानि
त्रिंशत्’ यजुषि सामरात्राणां अपि त्रिंशत्वात् रात्रोः प्राप्नोति ।
एवं सति समस्तस्य सर्वस्य संवत्सरश्चावात् तत्संवत्सरात्मकत्वात्
उभयात् संवत्सरस्याहोरात्रान्याप्नोति । अथात्रशिष्टानि यानि
पञ्चत्रिंशद्विद्यन्ते तानि त्रयोदशो मासः स चाधिको मासः संवत्-
सरस्यात्मा मध्योभागः इ यजुषी पादौ प्रतिष्ठाशब्देन पादावुच्येते
पुनर्हं यजुषी प्राणा इन्द्रियाणि यद्यपि ते प्राणा बहव स्तथापि
यानि * पञ्चत्रिंशद्दिनाधिक † मासस्य संवत्सरान्तःपातित्व
मभिदधत् तस्यासात्मकेन पञ्चत्रिंशता संवत्सरः करचरणादि-
विशिष्टं पुरुषकारतया प्रदर्शयते । “एतावानिति । एतत् प्रमा-
णकः खलु संवत्सरः । एवं च सति संवत्सरे यावती सङ्ख्यास्ति
शतरुद्रियेऽपि तावती सङ्ख्या विद्यत इति सङ्ख्याद्वारा शतरुद्रियं
संवत्सरं मन्त्रं प्राप्नोति’ तेन च सदृशो भवति । “एतावत्य

* ‘याभि’ ॥—इति इ . भ . ञ ।

† ‘पञ्चत्रिंशद्दिनाधिकं’—इति अ

उभया इत्यादिकस्याय मधे: --- 'शाण्डिले' शाण्डिलहृष्टेऽस्मिन्
 'अमौ' (स्मिन्) 'मध्यतो' मध्यप्रदेशे एतावत्स्यः षष्ठ्युत्तरगतत्रय-
 सङ्ख्याका इष्टका मन्त्रवत्य उपधीयन्ते । इयं च परिगणनो-
 त्तरस्मिन् काण्डे निधास्यते । इष्टकाषामन्यवयवत्वात् पृथगैवा
 ऽम्ययः । एवञ्च मति मञ्जासामान्यात् गतरुद्रियेषेष्टकारुपा
 अम्ययः पृथगैवाहुता भवन्तीति ॥ ४३ ॥

अथ प्रकारान्तरंणापि गतरुद्रियस्य सम्पत्तिः प्रश्नोत्तराभ्या
 माह - "तदाहु इत्यादिना । 'महदुक्थ मिति' प्रयहाजर्तमाह-
 व्यपदेशं (१) * शस्त्रान्तेनानुशंसनायं स्तोत्रं पञ्चाकारं भवति । तच्च
 पञ्चविंशस्तोम आत्माभागः अतथात्रापि अर्गातीना मभितोविद्य
 मानानि यानि (२ तानि) पञ्चविंशति यंजुंषि तान्येव महदुक्थ
 पञ्चविंश स्तोमात्मक आत्मभागः । यद्यथात्र पञ्चाकारता स्तो-
 त्रस्यैवेति आत्मभाग इत्यपि तत्रैव तथापि तदनुशंसनात्मकं
 शस्त्रे भेदेनोच्यते । यथात्मा भवति तत्रैव शिवः पञ्च पुञ्जा
 नीत्येतानि भवन्ति । आत्मभागादेव तेषां सर्वेषां मुत्यत्तैः
 आत्मभागे तानि सर्वाण्यन्तर्भूतानि । आत्मभागसम्पादना +
 देव शिवः प्रभृतान्यपि संगृहीतानि भवन्तीत्यर्थः । अथातः
 गतरुद्रिये या अर्गातयो भवन्ति ताभि महदुक्थस्यार्गातिभि
 राख्याता, तत् मन्त्रध्विनीना मर्गातीना मासि भवति ।

अथ गतरुद्रिये अर्गातिभ्यो य देयाहु मन्त्र जात मस्ति.

* "महावृत्ते ब्रह्मस्यति महस्र व्यपदेशं" इति ज ।

+ 'आत्मभागोऽयं यदना' इति भ, ग .

महदुक्त्यासीतिभ्य ऊर्ध्वं चधो यदेव मन्त्र जातं तदेव भवति ।
 तेन तस्य इत्यर्थः,— अद् इति महदुक्त्यात् परं मन्त्र जातं
 बुद्धिस्तं परामृश्यते । एव मुक्त प्रकारेण घतवद्विद्ये विद्यमा-
 नेन तेन तेन भागेन महति उक्थे विद्यमानस्य तस्य तस्य
 साङ्गस्यासिः घतवद्वियं महदुक्त्य माप्नोति तथा महतोक्थेन
 सम्पद्यते ॥ ४४ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनघतपद्यब्राह्मणभाष्ये
 नवमकाण्डे प्रथमोऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथै॒न म॒तः प॒रिषि॒ञ्चति । एतद्वा ऽ॒णम॑ दे॒वाः
शत॑रुद्रि॒येण॑ शमयित्वाथै॒न मे॒तद्भु॒य ए॒वाशम॑य॒स्तथै॒-
वै॒न मे॒व मे॒तच्छ॑त॒रुद्रि॒येण॑ शमयित्वाथै॒न मे॒तद्भु॒य ए॒व
शम॑यति ॥ १ ॥

अ॒ग्निः प॒रिषि॒ञ्चति । शान्ति॑र्वा ऽ॒थापः॑ शम॒-
यत्ये॒वै॒न मे॒तत् स॒र्वतः॑ प॒रिषि॒ञ्चति॑ स॒र्वत॑ ए॒वै॒न
मे॒तच्छ॑मयति त्रि॒ष्कृ॒त्वः प॒रिषि॒ञ्चति॑ त्रि॒ष्टु॒दग्नि॑र्या॒वा-
नग्नि॑र्या॒वत्य॑स्य मा॒त्रा ता॒वतै॒वै॒न मे॒तच्छ॑मयति ॥ २ ॥

यद्दे॒वै॒न प॒रिषि॒ञ्चति॑ । इ॒मे वै लो॒का ए॒षो
ऽग्नि॑रि॒मांस्त॒स्रो॒कान॑ग्निः प॒रित॑नोति समु॒द्रेण॑ हे॒मां-
स्तत् प॒रित॑नोति स॒र्वत॑स्त॒स्मादि॒मांस्त॒स्रो॒कान॑ स॒र्वतः॑
समु॒द्रः प॒र्य॑ति दक्षिणा॒ह॒त॒स्मादि॒मांस्त॒स्रो॒कान् दक्षि॑णा-
ह॒त् समु॒द्रः प॒र्य॑ति ॥ ३ ॥

अ॒ग्नी॒त्य॒रिषि॒ञ्चति॑ । अ॒ग्नि॒रेष॑ यदा॒ग्नी॒धो नो
वा ऽ॒थात्मा॑त्मानं॒ हि॒न॒स्य॒हि॒माया॑ ऽ॒अ॒ग्म॒नो ऽ॒ध्य-

अनो ह्यापः प्रभवन्ति निकक्षान्निकक्षाद्यापः प्र-
भवन्ति दक्षिणान्निकक्षादक्षिणादि निकक्षादापः
प्रभवन्ति * ॥ ४ ॥

अश्वमूर्च्छं पर्वते शिश्रियाणा मिति † । अश्वमि
वा ऽएषोक् पर्वतेषु श्रिता यदापोऽङ्गा षोषधीभ्या
व्वनस्पतिभ्यो ऽअधि सम्भृतं पय इत्यतस्माद्देतत्
सञ्चस्माद्धि सम्भृतं पयस्तां न इषमूर्च्छं धत्त मरुतः
सर्गराणा इति मरुतो वै वर्षस्येगते ऽमंस्ते क्षुदिति
निदधाति तदश्वमि क्षुधं दधाति तस्मादश्वमानाद्यो
ऽथो स्थिरो वा ऽअश्वमा स्थिरा क्षुत्स्थिर ऽएव तत्
स्थिरं दधाति मयि त ऽऊर्गित्यपादत्ते तदात्ममूर्च्छं
धत्तं तथा द्वितीयं तथा तृतीयम् ॥ ५ ॥

निधायोदहरणं त्रिविधं पल्ययतं । एतद्वा ऽएन
मेतद्व्ययतीव यदेन० समन्तं पर्यति तस्मा ऽएवै-
तन्निर्गते ऽहि० सायै ॥ ६ ॥

यद्देव विपल्ययते । एतद्वा ऽएन मेतदन्ववैति

तत एवैतदात्मान मपोहरते जीवात्सै तथो हानेना-
त्मना सर्वमायुरिति ॥ ७ ॥

त्रिष्विपल्ययते । विहि कृत्वः पर्यति तद्यावत्
कृत्वः पर्यति तावत् कृत्वो विपल्ययते * ॥ ८ ॥

अथ तमग्मान मुदहरणे ऽवधाय । एतां दिशु
हरत्येषा वै नर्कती दिङ् कृत्या मेव तद्दिशि शुचं
दधाति ॥ ९ ॥

एतद्वा ऽएनं देवाः । शतरुद्रियेण चाङ्घ्रिषु शम-
यित्वाथास्यैतेन शुचं पाप्मान मपाघ्नंस्तथैवैन मयमेत-
च्छतरुद्रियेण चाङ्घ्रिषु शमयित्वाथास्यैतेन शुचं पा-
प्मान मपहन्ति ॥ १० ॥

बाह्येनाग्निं हरति । इमे वै लोका ऽएषा
ऽग्निरेभ्यस्तस्त्रीकेभ्यो वहिर्वा शुचं दधाति वहिर्व्वेदीयं
वै वेदिरस्यै तद्दहिर्वा शुचं दधाति † ॥ ११ ॥

म व्वेदेर्दक्षिणायां शोणौ । प्राङ् तिष्ठन्

* 'विपल्ययते' - इति क, ख ।

† 'दधाति' - इति ख ।

दक्षिणा निरस्यति यं द्विष्यस्तं ते शुगृच्छत्विति च
मेव हेष्टि त मस्य शुगृच्छत्वमं ते शुगृच्छत्विति च
ब्रूयाद्यं द्विष्यात्ततो च तस्मिन्न पुनरस्यपि तन्नाद्रियेत
स्वर्यनिर्दिष्टो चैव स यमेवविहेष्टि यदि न भिद्येत
भेत्तवै ब्रूयाद्यदा चैव स भिद्यतेऽथ तए शुगृच्छति
च हेष्ट्यप्रतीच मायन्त्यप्रतीच मेव तच्छुचं पाप्मानं
वहति * ॥ १२ ॥

प्रत्येत्येष्टका धेनुः कुरुते । एतद्वा ऽएनं देवाः
शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुच मस्य पाप्मानं
मपहृत्य प्रत्येत्येष्टका धेनुरकुर्वत तथैवैन मय मेत-
च्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुच मस्य पाप्मानं
मपहृत्य प्रत्येत्येष्टका धेनुः कुरुते ॥ १३ ॥

पासीनः कुर्वीतेत्यु हैक ऽप्राहः । पासीनो
वै धेनुं दोग्धीति तिष्ठन्त्वेव कुर्वीतेमे वै लोका
एषो ऽग्निस्तिष्ठन्तीव वा ऽदूमे लोका यथो तिष्ठन्वी
र्वीर्यवत्तरः ॥ १४ ॥

उदङ् प्राङ् तिष्ठन् । पुरस्तादा ऽएषा प्रतीची
 ब्रह्मार्थं धेनुकृषतिष्ठते दक्षिणतो वै प्रतीची धेनुं
 तिष्ठन्ती मुपसीदन्ति ॥ १५ ॥

स ब्रह्माभ्याप्नोति । तद्भिर्मृष्यैतद्यजुर्जपतीमा
 मे ऽचम्य ऽदृष्टका धेनुवः सन्धित्वमिहेतासां धेनु-
 कारणाद्येते तस्मादेतावतीनां देवताणा मग्नि मेवा
 मन्त्रवत् ऽएका च दश चान्तश्च परार्द्धस्येषेण हाव-
 गार्हो भूमा बटका च दश चाय हेष परार्हो भूमा
 बटकाश्च परार्द्धस्यपरार्द्धतस्यैवैना एतत् परार्द्धतश्च
 परिगृह्य दंका धेनुकृष्वत् तयैवैना चय मेतदव-
 रार्द्धतस्यैव परार्द्धतश्च परिगृह्य धेनुः कुरुते तस्मा-
 दपि नाद्रियेत बह्वीः कर्तुं ममुच वा ऽएष एता
 ब्रह्मण यजुषा बह्वीः कुरुते ऽयः यत् सन्तनोति
 क्षामानेव तत् सन्तनोति ॥ १६ ॥

यदेवेष्टका धेनुः कुरुते * । व्याख्या ऽएष मग्नि-
 र्वाचा हि चितः स यदाहेका च दश चान्तश्च

पराच्येति व्याख्या ऽएका व्यागदश व्यागन्तो वाक्-
 परार्थो व्याच मेव तद्देवा धेनु मकुर्वन्त तथैवैतद्यज-
 मानो व्याच मेव धेनुं कुरुते ऽथ यत् सन्नोति
 व्याच मेव तत् सन्नोत्येता मे ऽपन्न ऽदृष्टका धेनुवः
 सन्त्स मुचा मुष्मिंशोक् ऽदृत्येतद्वा ऽएना पस्मिंशोके
 धेनुः कुरुते ऽथैना एतद् मुष्मिंशोके धेनुः कुरुते
 तयो ह्येन मेता उभयोर्धोक्थोर्भुञ्जन्त्यस्मिंशा मुष्मिंश ।

॥ १७ ॥

ऋतव खेति । ऋतवो ह्येता ऽऋतावृध ऽदृति
 मत्सवृध ऽदृत्वेतदृत्तुष्वा स्य ऽऋतावृध ऽदृत्त्यहोरात्राणि
 वा ऽदृष्टका ऽऋतुषु वा ऽपहोरात्राणि तिष्ठन्ति घृत-
 शृतो मधुशृत ऽदृति तदेना घृतशृतस्य मधुशृतस्य
 कुरुते ॥ १८ ॥

व्विराजो नामेति । एतच्चै देवा एता दृष्टका
 नामभिरुपाह्वयन्त यथा यथैना एतदाचक्षते ता
 एनानभ्युपावर्तन्ताथ लोकास्पृशा एव पराच्यस्तस्युर-
 हितनाभ्यो निमे मिहत्यस्ता व्विराजो नामाकर्वन्त

ता ए॒मान॒भ्यु॒पाव॒र्त्तन्त॒ तस्मा॒द्दृश॒ दृशे॒ष्टका॒ ऽउ॒प॒धा॒य
 लो॒क॒म्पृ॒ण॒याभि॒मन्व॒यते॒ तद्दे॒ना वि॒राजः॒ कुरु॒ते
 दृ॒शा॒क्षरा॒ हि वि॒राट्॒ काम॒दु॒घा ऽच॒क्षी॒यमा॒णा ऽदृ॒ति
 तद्दे॒नाः॒ काम॒दु॒घा च॒क्षी॒यमा॒णाः कुरु॒ते * ॥ १६ ॥

अथै॒र्न वि॒कर्ष॑ति । म॒ण्डू॒केना॒वक॒षा व्ये॒तस॒-
 शा॒ख्यै॒तद्वा ऽ॒ण दे॒वाः श॒तरु॒द्रिये॒ण चा॒द्भिष॒ शम॒-
 यित्वा॒ शुच॒ मस्य॒ पाप्मान॒ मप॒हत्या॒थैर्न॑ † मे॒तद्भू॒य ए॒व
 श॒मय॑ति ‡ स॒र्वतो॒ वि॒कर्ष॑ति स॒र्वत॒ ए॒वैर्न॒ मे॒तच्छ॒-
 मय॑ति ॥ २० ॥

यद्दे॒वैर्न॒ वि॒कर्ष॑ति । ए॒तद्दे॒ यत्रै॒तं प्रा॒णा कृ॒ष-
 यो॒ये ऽग्नि॒ः स॒मस्कु॒र्वन्तु॒ मद्भि॒र॒वो॒जं॒स्तां चा॒पः॒ स॒म॒-
 स्क॒न्द॒स्तै म॒ण्डू॒का अभ॑वन् ॥ २१ ॥

ताः प्र॒जा॒पति॒ मब्र॑वन् । यद्दे॒ नः॒ कम॒भू॒द्वा॒क्त॒-

* 'कुरुते' - इति ख ।

† 'महत्याथैर्न' - इति ग, घ ।

‡ "शमयंस्तथैवेन मय मेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिष शमयित्वा शुच मस्य पाप्मान मपहत्याथैर्न मेतद्भूय एव शमयति" - इत्यत्राधिको पाठः
 क ख, उ पुस्तकेषु ।

दगादिति सोऽब्रवीदेष व ऽएतस्य व्यनस्पतिर्व्यत्विति
 व्यत्तु संवेत्तु सोऽह वै तं व्येतस ऽद्वत्यावचते परोऽचं
 परोऽचकामा हि देव्य ऽच्य यद्ब्रुवन्नवाङ्मः कम-
 गादिति ता ऽचवाक्ता ऽचभवन्नवाक्ता इ वै ता चक्का
 ऽद्वत्यावचते परोऽचं परोऽचकामा हि देवास्ता हैता-
 स्त्र्य्य ऽचापो यन् मण्डूको ऽवका व्येतसशाखैताभि-
 र्वैन मेतत् वर्यौभिरद्भिः शमयति ॥ २२ ॥

यदेवैनं व्यिकर्षति । जायत ऽएष ऽएतद्यचीयते
 स ऽएष सर्वस्मा ऽचन्नाय जायते सर्व्व्वेतद्वं यन्
 मण्डूको ऽवका वेतसशाखा पशुवसु ज्ञेता चापस
 व्यनस्पतयश्च सर्व्व्वेवैन मेतद्वेन प्रीणाति ॥ २३ ॥

मण्डूकेन पशूनाम् * । तस्मान् मण्डूकः पशूना-
 मनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सो ऽवकाभिरयां
 तस्माद्वका अपा मनुपजीवनीयत मा यातयाम्न्यो
 हि ता व्येतसेन व्यनस्पतीनां तस्माद्वेतसो व्यनस्पती-
 ना मनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः ॥ २४ ॥

तानि व्व॒शे प्र॒व॒ध्य । द॒क्षिणा॒र्हिना॒ग्नेर॒न्तरे॒ण
परि॒श्रितः प्रा॒ग॒ये व्वि॒कर्ष॑ति समु॒द्रस्य॒ त्वाक्क॒यान्ने
परि॒व्यया॒मसि॒ पा॒व॒को ऽ॒प॒स्म॒भ्य॒ऽ शि॒वो भ॑र्षति
समु॒द्रिया॒भिस्त्वा॒ग्निः श॒मया॒म इ॒त्येतत् * ॥ २५ ॥

अथ॒ जघ॑ना॒र्हेनो॒दक् । हि॒मस्य॒ त्वा ज॒रायु॒-
द्या॒ग्ने परि॒व्यया॒मसि॒ पा॒व॒को ऽ॒प॒स्म॒भ्य॒ऽ शि॒वो
भवे॒ति यद्दे॒ शी॒तस्य॒ प्र॒शीतं॒ तद्दि॒मस्य॒ ज॒रायु॒ शी॒तस्य
त्वा प्र॒शीते॒न श॒मया॒म इ॒त्येतत् † ॥ २६ ॥

अथो॒त्तरा॒र्हेन॒ प्राक् ‡ । उ॒प उ॒म॒क्षुप॒ वेत॑से
ऽव॒तर॒ नदी॒ष्वा § अ॒ग्ने पि॒त्त॒ म॒पाम॑सि म॒ण्डुकि
ता॒भिरा॒गहि॒ से॒म॒ न्नो य॒ज्ञं पा॒व॒क॒वर्ण॑ऽ शि॒वं
कृ॒धीति॒ यथै॒व य॒जुस्त॒था व॒न्धुः ॥ २७ ॥

अथ॒ पू॒र्व॒र्हि॒न द॒क्षिणा ॥ । अ॒पा मि॒दं न्य॒यन॑ऽ
समु॒द्रस्य॒ नि॒त्रे॒ग॒नम् अ॒न्यांस्ते ऽ॒प॒स्म॒त्तप॑न्तु हे॒तयः

* , † 'इत्येतत्' - इति ग, घ ।

‡ 'प्राक्' - इति ग, घ ।

§ 'नदीष्वा' - इति ग, 'नदीष्वा' - इति घ

¶ 'दक्षिणा' - इति ग, 'दक्षिणा' इति घ

पावको ऽपस्मभ्यः शिवो भवति यथैव यजुस्तथा
 बभ्रुरित्यये ऽविकर्षत्यथेति अथेत्यथेति तद्दक्षिणा-
 वृत्तञ्चि देवत्रा * ॥ २८ ॥

आत्मान मये ऽविकर्षति । आत्मा ह्येवाये
 सम्भवतः सम्भवत्यथ दक्षिणं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरं
 तद्दक्षिणावृत्तञ्चि देवत्रा † ॥ २९ ॥

अभ्यात्मं पक्षपुच्छानि ऽविकर्षति । अभ्यात्म
 मेष तच्छान्तिं धत्ते परस्तादञ्चावपरस्तादेव तद्-
 ऽर्वाचीः शान्तिं धत्तेऽर्न पावक रोचिषिति दक्षिणं
 पक्षः स नः पावक दीदिव इति पुच्छं पावकया
 यच्चितयन्त्या कृपेत्युत्तर पावकं पावक मिति यद्वै
 शिवः शान्तं तत् पावकः शमयत्येवैन मेतत् ॥
 ॥ ३० ॥

सप्तभिर्विकर्षति । सप्तचितिकोऽग्निः सप्त-
 ऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो ऽनिर्यावाननिर्यावत्यस्य

* 'देवत्रा' -- इति ग, घ ।

† 'देवत्रा' इति ग, 'देवत्रा' -- इति घ ।

मावा तावतैवैन मेतद्विकर्षति तं व्यथ्य मुत्करे-
न्यस्य * ॥ ३१ ॥

अधेनः सामभिः परिगायति † । अथैष सर्व्वी-
ऽग्निः सस्रुतस्तस्मिन् देवा एतदमृतं रूपं मुत्तमं
मदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतदमृतं रूपं मुत्तमं दधाति
सामानि भवन्ति प्राणा वै सामान्य मृतमु वै
प्राणा अमृतं मेवास्मिन्नेतद्रूपं मुत्तमं दधाति सर्व्वतः
परिगायति सर्व्वतः ऽएवास्मिन्नेतदमृतं रूपं मुत्तमं
दधाति ॥ ३२ ॥

यद्वैवैनः सामभिः परिगायति । एतद्वै देवा
अकामयन्तानस्थिक मिमं ममृतं मात्मानं कुर्व्वीमही-
ति तं ऽब्रुवन्नप तज्जानीत यथेम मात्मान मनस्थि-
क ममृतं करवामहा ऽद्वृत्ति ते ऽब्रुवन्नेतयद्द मिति
चित्ति मिच्छतेति वाव तद्ब्रुवंस्तदिच्छत यथेम-
मात्मान मनस्थिक ममृतं करवामहा ऽद्वृत्ति ॥ ३३ ॥

* 'न्यस्य'—इति क, 'न्यस्यु'—इति ख, 'न्यस्य'—इति ग, क ।

† 'परिगायति'—इति क ।

ते चेतयमानाः । एतानि सामान्यपश्यंस्तैरेनं
पर्यगायंस्तैरेत मात्मान मनस्थिक ममृत मकुर्वन्त
तथैवैतद्यजमानो यदेनꣳ सामभिः परिगायत्येत
मेवैतदात्मान मनस्थिक ममृतं कुरुते सर्व्वतः परि-
गायति सर्व्वत ऽएवैतदेत मात्मान मनस्थिक ममृतं
कुरुते तिष्ठन् गायति तिष्ठन्मौत्र वा ऽइमं लोका
ऽपथो तिष्ठन्वै व्वीर्य्यवत्तरो हिङ्गुत्य गायति तत्र हि
सर्व्वं कृत्स्नꣳ साम भवति ॥ ३४ ॥

गायत्रं पुरस्ताद्गायति । अग्निर्व्वै गायत्र मग्नि
मेवास्यैतच्छिरः करोत्यथो शिर एवास्यैतदमस्थि-
क ममृतं करोति ॥ ३५ ॥

रथन्तरं दक्षिणे पक्षे । इयं वै रथन्तर मिय मु
वा ऽएषां लोकानाꣳ रसतमो ऽस्याꣳ ही मे सर्व्वे
रसा रसन्तमꣳ ह वै तद्रथन्तर मित्याचक्षते परो-
ऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा इमा मेवास्यैतद्वक्षिणं
पक्षं करोत्यथो दक्षिण मेवास्यैतत्पक्षं मनस्थिक ममृतं
करोति ॥ ३६ ॥

बृहदुत्तरे पक्षे * । द्यौर्वै बृहद् द्यौर्हि बर्हिष्ठा
दिव मेवास्यैतदुत्तरं पक्षं करोत्यथो ऽउत्तर मेवास्यै-
तत् पक्षं मनस्थिकं ममृतं करोति ॥ ३७ ॥

व्वामदेव्यं मात्मन् । प्राणो वै व्वामदेव्यं
व्वायुरु प्राणः सर्वेषां मु ह्येष देवानां मात्मा
ब्रह्मायुर्व्यायुमेवास्यैतदात्मानं करोत्यथो ऽआत्मानं
मेवास्यैतदनस्थिकं ममृतं करोति ॥ ३८ ॥

यज्ञायज्ञियं पुष्कम् । चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञियं
यो हि क्व य यज्ञः सन्तिष्ठत ऽएत मेव तस्याहु-
त्वीनां रसोऽप्येति तद्यदेतं यज्ञो-यज्ञो ऽप्येति
तस्माच्चन्द्रमा यज्ञायज्ञियं चन्द्रमस मेवास्यैतत्
पुष्कं करोत्यथो पुष्कमेवास्यैतदनस्थिकं ममृतं
करोति † ॥ ३९ ॥

अथ प्रजापतेर्हृदयं गायति । असौ वा ऽआ-
दित्यो हृदयं श्रुत्वा एष श्रुत्वा हृदयं परि-
मण्डल एष परिमण्डलं हृदयं मात्मन् गायत्या-

* 'पक्षे'—इति म, 'पक्षे'—इति व ।

† 'करोति'—इति व ।

त्सन् हि हृदयं निकर्त्तं निकर्त्तं हि हृदयं दक्षिणं
 निकर्त्तं ऽतो हि हृदयं नदीय आदिच मेवास्यैत-
 द्दृश्यं कराद्यथा हृदयं मेवास्यैतदनस्यिक ममृतं
 करोति ॥ ४० ॥

प्रजाम् च प्रजापतीं च गायति । तद्यत् प्रजाम्
 गायति तत् प्रजाम् हृदयं दध्याद्यथ यत् प्रजा-
 पतीं गायति तदग्नीं हृदयं दधाति ॥ ४१ ॥

यदेव प्रजाम् च प्रजापतीं च गायति । अयं
 वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च तद्यदग्नीं गायति
 तदेव प्रजाम् च प्रजापतीं च हृदयं दधाति ॥ ४२ ॥

ता हेता असंतष्टकाः * । ता उत्तमा उपदध्यात्य-
 मृतं तदस्य मुखस्योत्तमं दधाति तस्मादस्य मुखस्या
 मृतं मुत्तमं नान्यो ऽध्वर्योर्गायिदिष्टका वा ऽपता वि-
 चिता इ स्यादादन्यो ऽध्वर्योर्गायित् ॥ ४३ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे शतरुद्रोयज्ञोमोऽभिहितः अथास्मिन्नग्नी
परिषेकत्रेत्तुकरणात्रिकर्षणादिकं कर्माभिधाय्यै । कात्यायनः,
— “त्रियं परिषेच्यग्नीऽक्षिणे निकृतेऽद्रिं कृत्वाश्मश्रुजं-
मिच्छेद्वरधि” ॥ इति आग्नीधो दक्षिणकक्षप्रदेशे पाषाणं निधाय
“अश्रुजं” ॥ इति मन्त्रेण पाषाणस्यापरित आग्नीध्रं
परिषेच्येदिति सूत्राद्यैः तमेकं परिषेकं विधत्ते - “अयेति ।
यतः कारणात् सञ्चितोग्निः रुद्ररूपत्वादशास्तः अत एव
शान्त्यर्थं परिषेचेत् नन् चात्र सञ्चितस्याग्नेः रुद्ररूपत्वेना
शान्त्यर्थं मनार्थं मेव शतरुद्रोयज्ञोमः । अतएवोक्तं “तस्मा ऽएत
इव सप्तमन्त्रेण न्तरेतयः” ॥ इति अतः किमर्थं पुनः शम-
नार्थं परिषेकस्य विधानं - न हि शास्तः पुनरपि शास्त मपि
स्यते । न हि भुक्तवान् भोजन संपन्नत इत्यत आह “एतदा
इति । एतदिति देवानां कर्मानुष्ठानानामरपरामर्गः । एतस्मिन्
वसरे ते देवा अशास्त मेन मन्त्रिं शतरुद्रियेण शमयित्वाद्यै
तेन परिषेकेण भूय एवाधिकं मेवाध्याशमगन अतो यथे
व देवा अकुर्वन् तथैवाय मपि यजमानः शतरुद्रियेण शान्त
मपि पुनरधिकशमनार्थं परिषेचति । अतः शमनाधिक्यार्थ-
त्वात् परिषेकोऽवग्यं विधेय इति भावः । “अथैन सतः परि-
षेचति” इति सामान्य विधानात्पय आदिनाऽपि परिषेकः

• का० श्रौ० सू० १८. ०. १

+ वा० सं० १७. १

१ इहव पुरस्तान् १ अ०, २ क०, ४० २, ५० २ ।

स्यादित्यग्नौ च ,— “अग्निरिति । परिषेकस्य शमनार्थत्वादय-
चाग्न्यादिकृतसन्तापशमनक्षमत्वेन शान्तित्वादग्निः सम्पादितेन
परिषेकेणैव शमयति ॥ १ ॥

“अग्नि” रपि क्वचिदेवपरिषेकेसाकल्पेन शमनं न सेत्स्यती-
त्याह , — “सर्वत” इति । सकृत् कृते शास्त्रार्थ इति न्यायेन
सकृदपि परिषेके कृते परिषेकविधिश्च इत्यर्थः । स्यादित्य-
भिप्रेत्य तदाहृत्तिं सङ्ख्यां दर्शयति । ‘त्रिः कृत्व’ इति । चित्त्व-
सङ्ख्यास्य कार्त्स्न्येनैव शमनहेतु इत्याह ,— “त्रिहृदग्नि” रिति
अथ त मेव परिषेकं प्रकाशान्तरेण प्रशंसति ॥ २ ॥

“यद्देवैर्न मिति । एष सञ्चितोऽग्निः प्राजापत्यात्मकत्वेन
प्राजापतेश्च सर्वलोकहेतुत्वेन तदात्मकत्वात् ‘इमे’ पृथिव्यादयो-
लोकाः खलु अतश्च तादृशस्याग्नेः परिषेकेण इमानेव ‘लोका-
नग्निः परितनोति’ परिषेकयति । समुद्रस्यावात्मकत्वादग्निः
परिषेके समुद्रेणैवैवान् लोकान् परिषेकयति । स च परिषेकः
‘सर्वतः’ सम्पादित इति समुद्रोपीमान् लोकान् सर्वतः (पर्येति
पृथिव्याः समुद्रेण बलवत्त्वात् अन्तरिक्षदुलोकयोः पृथिव्या
मुपरिवर्त्तमानत्वात् पृथिव्यादीन् सर्वान् लोकान् सर्वः समुद्रः
पर्येतीत्युच्यते सर्वतः) * परिषेकः सव्याहृदपि कर्त्तुं शक्यत
इत्यत आह — “दक्षिणाहृदिति । अतः प्रादाक्षिण्यैक्रमेण परि-
षेकः सम्पादितः अतः समुद्रोऽपि तथैव पर्येति ॥ ३ ॥

* बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे अधिकः .

समाख्याविनियोगाच्चाध्वर्योः परिषेक प्राप्तापवाद माह —
 “अग्नीदिति । अथ कस्मादध्वर्युपरि यागेनाग्नीध्रः परिगृह्यत
 इत्यत्राह * अग्निरेष इति परिषेक्तव्यस्याग्नेरगमनेन त्रय-
 त्वादध्वर्यो परिषेक्तारितो † हिंसा सम्भाविता स्यात् अग्नीध्रस्य
 पुनरग्न्यत्मकत्वेन आत्मनैवात्मनो हिंसाया अमन्त्रादहिंसार्थं
 तस्य परिग्रह इत्यर्थः । परिषेकात्सरे कृत्तिले निकृते कश्चिन्
 पाषाणं निधाय तत आरभ्यत इत्याह । “अग्नीध्रौत्यादिना
 निकृत्तः कश्च प्रदेगः तत् सन्धिस्थानं लोकेऽपि पर्वत दप
 दक्षिणात्पाषाणसन्धिस्थानाद् सर्वतः स्तेरुस्थाने (?) पाषाणं
 निधाय तत आरभ्य परिषिञ्चेत् इत्यर्थः । ४ ॥

इत्थं प्रकारं परिषेकं विधाय अत्र तत्र मन्त्रं प्रदर्श
 व्याचष्टे — “अग्न्यूर्ज मिति ‡ । आप इति यत् ‘एषां पर्वतस्य
 श्मनि ‘त्रिता’ ऊर्जरसः पर्वतेषु पाषाणसन्धिभ्यो य मत्प
 अतश्चाग्नीध्रं मित्येषभागां य एवाभिज्ञते । ‘गिश्रियणा
 मिति अयनेः शानचि इयड देऽ च कपम् उत्तरच ‘वराणा
 इत्येतदपि निजन्तं पदम् । ‘अद्वा चांशदीभ्य इत्यतन् मन्त्र
 भागपरिपाद्योः प्रसिद्ध इत्याह — “एतन्माधीति । ‘पयः’ क्षीरं
 तच्च अनादिभ्यः सम्पद्यन्ते इत्येतत् प्रसिद्धमेव अथत्युक्त
 वतीभ्यो गोभ्यः स्तदुत्पत्तरिति । ‘तां न इषं’ इत्यनेन भागो न

* ‘इत्यत्र आह’—इति ज, भा । इत्यत्राह’—इति क, ञ ।

† ‘त्रयदध्वर्यो (१) परिषेक्तारितो (!)’—observed by Dr. Webber.

‡ वा० सं० १७, १ .

मरुतात्, तत् प्रदावृत्त्वस्य प्रतिपादनात् तेषां तत् प्रेरकत्वेन तदुपपादयति । “मरुतो वा इति मन्त्रस्यायमर्थः,—‘पर्वते’ अश्मनि ‘गिप्रियाणां’ श्रिता ऊर्जं रमं अय इत्यर्थः । ता मूर्जं मद्गाः आषध्या वनस्यतिभ्यश्च सम्पत्तिं पया आहरन्ति तश्मत्वत् । हेतु मतः संराणाः रादाने, सम्यग्दाता यूयं ता मिष मथ्यमाणः मूर्जं रमं नोऽस्म्यं धत्ता सम्पादयति परिषेकात्तरं अश्मन्त इत्यनेन मन्त्रेण पाषाणे कुम्भं निदध्यात् इत्याह । “अश्मंस्ते क्षुदिति निदधातीति । अश्मनि कुम्भस्य निधाने परिषेकात्तरं शान्तस्य रुद्रस्य क्षुधं पाषाणे निहितवान् भवति इत्याह । तस्मादश्मनि क्षुधं दधाति तस्मादिति । यतोऽश्मनि क्षुन्निहितं तस्मात्त्राणो न भक्षणयः तत्रासि सु धारत्वे न यस्मरत्वात् नत्वग्निं मन्त्रिभ्या क्षुधो निधानं पाषाणयति र स्थानेपि कर्त्तव्यं स्यत् । अतस्तदुल्लङ्घनेनात्रैव किमिति निहितेति तत्राह, “अथो इति ‘अश्मा’ कठिनत्वात् ‘स्थिरः क्षुदपि तथा स्थिरादिदानो सुपशान्तादि कालान्तरेऽनुवृत्तेनात् । अतोऽश्मनि क्षुधो निधानो स्थित एव स्थिरं दधाति । अश्मनिहितस्य कुम्भस्य पुन मन्त्रेण स्वोकारं विधत्— “मयि त इति । तत् तेन स्वोकारिण पुनरात्मन्यूर्जं अवामिकाभ्यत्ते । पूर्वं क्षुधापगमनायं अश्मनि कुम्भे निहितः । तदात्मन्यूर्जो धरणं न सिध्योवेदिति तदर्थं पुन “स्तथा द्वितीयं तथा तृतीयं इति । तृतीयं वा एव स्थाने किं कर्त्तव्यं मिति ॥ ५ ॥

तत्राह,—“निधायेति । उदकं क्रियतेऽनेनेति उदहरणं कुम्भः

“उदकस्योदः सञ्जायाम्” * इत्युदादेशः । तन्निधाय त्रिवारं
 विपल्ययते प्रतिपर्येति । सञ्जायत्यर्थं विपल्ययत इति ।
 “उपसर्गस्यायताविति लत्वं” † किं मर्थं विपर्ययणं । मयाह
 “एतद्वा इति । एतन्निधाय वसरे ऽखलु एन मग्निं सगन्तात्पर्येतीति ।
 यत एतेनैतन् लघुयति लघुमिवाचरति अतस्तथा कृतं ऽग्निं हिंस्य-
 दिति । अहिंसार्थं तस्मा एवाग्नये निष्कृतं कृतं तद्विपर्यय मप
 राध मपमाष्टीत्यर्थः । लघुयतीति उपसर्गनादाच्चाति इति ऋच्
 प्रत्ययः ‡ । “तस्मा इति । “आधकृडिच्य दिन सम्प्रदान सञ्जायां
 चतुर्थी” § इत्यर्थः प्रकारान्तरंणाप विपर्ययणं प्रशंसति ॥ ६ ॥

“यद्देति । प्रदक्षिणप्रकावसरे तनाग्नि मनुगतो भवतीति
 विपर्ययणात् । तत एव जीवनायात्मानं पृथक् कराति । तथा सत्ये-
 नेदानो ध्रियमाणेन शरारेणव ‘सव मत्युः’ प्राप्नोति ॥ ७ ॥

विपर्ययणस्य त्रिवारं करणं प्रशंसति,—

त्रिविपल्ययत इति ॥ ८ ॥

त्रिवारं पर्यत्य पश्चात् साश्मानं कुम्भं नैऋतीं दिशि
 प्रक्षिपेदित्याह,—

“अथेति । “एतां दिशः” नैऋतीं दिशं हस्तेनःभिनाय दर्श
 यति । “एषा नैऋती” दिगिति विवरणात् ॥ ९ ॥

* पा० सू० ३. ३. ५७ ।

† पा० सू० ८. १. १६ ।

‡ पा० सू० ३. १. १० ।

§ पा० सू० १. ४. ३४ ।

“एतन्ना इति । पूर्वं देवा एत मग्निं शतरुद्रियेष चाद्भिष
शमयिवाथाः स्यन्नेरे नोक्तप्रदेशे प्रदोषेण शोक रूपं पापं इत-
वन्त । अतो यजमानोऽपि तत्र प्रक्षेपेण तथैव कृतवान्
भवति ॥ १० ॥

प्रक्षेप ३ हरणवसर अग्नेर्वाह्यभागेन हरेदित्याह . — “वाह्ये-
नाग्नि मिति । तथा हरणेन शोच्यः पृथिव्यादि लोकेभ्यो
बहिर्वाह्यतो भवतीत्याह , — “इने वा इति अग्नेः पृथिव्यादि
लोकत्रयत्मकत्वं प्राजापत्यात्मकत्वात् तथैव वंदेरपि बहि हरण
मभिवाय प्रशंसति । “बहिर्वदोति ॥ ११ ॥

उक्तप्रकारेण साश्मन कुम्भकृत्वा ‘वेदेर्दक्षिणस्यां श्रीणी’
‘आसुख रुष्ठ यं द्विष’ इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणतो निरस्ये-
दित्याह । स वा इत्यादिना । उः मन्त्रेण निरसने मन्त्रार्थ
स्तथैव फलतात्याह — य मीदति । अमुं ते गृच्छत्वित्यादि-
कन्तु प्रागेव व्याख्यातम् । निरस्तस्य तस्याश्मनो भेदने कुर्या-
दिति तत्राह । “यदोति । भेतवै भेतुं गच्छत्यर्थेत्यादि सूत्रेषु
तु मथे तवै प्रत्ययः । निरसनेनाभिवस्य तस्य बालोद्भेदनेन
किं लभ्यत इति तत्राह । यदा भाति अत्र ‘यदि न भियेत
भेतवै ब्रूयाद्’ इति सामान्येन च तद्भेदनं अश्मविषयं उदकुम्भ-
विषयं इति निर्णयो दृश्यते । अतोऽत्र विचार्यते, किं भेतद् भेदनं
कुम्भविषय अश्मविषयं एवेति । किं तावत् प्राप्तं सामर्थ्यात्
कुम्भविषय भेतद्भेदनं नाश्मविषयं, कुत एतत् एव भेतद्भेद-
णं समर्थं भवति । यदि न भियेत भेत वै ब्रूयादिति ।

अद्रोत्व समर्षं मेव न हि तस्य कठिनत्वात् मेदनं माशयते
इति पाप्तेऽभिधीयते * । अश्मविषय मेतद्भेदनं प्रतिपत्तव्यम् † । न
कुम्भविषयम् । कुत एतत् अर्थवादात् यदा ह्येव स भिद्यतेऽथताऽ
दृष्टच्छति । यं हेष्टीति ॥ १२ ॥

सा च शुभश्मनि निहिता तदश्मनि शुभं ‡ दधातीति । किञ्च
आश्मनिवाक्यभेदनं कुम्भे भेदनं सामर्थ्यादशनिर्वार्यवादाद्वाच्य-
त्वाच्चेति धेनुकरणं नाम वक्ष्यमाण मन्त्रजपपूर्वकं धेनुरूपेणानु-
सन्धानम् शतरुद्रियादि कुम्भनिरसनात्तं कर्मकृत्वा प्रत्येत्य
देवधेनुकरणाद्यजमानोऽपि एतेन तथैव कृतवान् भवतीत्याह,—
'एतदा' इति ॥ १३ ॥

विहितं धेनुकरणं आसीनेन सम्पाद्य मिति केषाञ्चिच्छास्त्रिणां
सोपपत्तिकं मतं पूर्वपक्षायितुं दर्शयति । 'आसीन' इति स्वमत
माह— "तिष्ठंस्त्वेषिति । तिष्ठन्नेव कुर्वीत, न पुनरासीन
इत्येवकारेण पूर्वं मुपन्यस्तस्य मतस्य निरासः । स्वमते
उपपत्ति माह— "इमे वा इति । एवं सधितोऽग्नि रिति
पृथिव्यादयो लोकाः कुतः प्रजापति स्तावत् पृथिव्यादि-
लोकहेतुत्वेन तदात्मक एषोऽग्निः प्राजापत्यात्मकः । स यः
स प्रजापतिर्व्यस्रंसत् मेव स योऽय मग्निधीयत इत्युक्तत्वात् ।
इत्थं प्राजापत्यात्मना अग्नि रिमे लोकाः, लोकाश्चैते तिष्ठ-

* का० श्रौ० सू० १८. २. ७ ।

† वा० सं० १७. १ ख ।

‡ 'शुचं'—इति का० श्रौ० सू० १८. २. ८ ।

त्वीव ऊर्जा अवतिष्ठन्त इव । अतश्च पृथिव्यादिसोकत्रया-
 म्मकस्वाग्नेरवयवीमूताना मिष्टकानां धेनुकरणं स्थित्वा सम्पाद्य
 मित्यर्थः । अपि च लोके तिष्ठन् पुरुषो वीर्यवत्तरो भवति ।
 तत्त्वासीनः ततश्च वीर्यवानेव भूत्वा धेनु करोति । यथा धेनवो-
 ऽभिमतं पयो * दुहन्ति तद्वद्वैता अपिष्टकाः स्वाभिलषितं
 दुहन्ति बुध्या धेनुरूपेणानुसन्धानं क्रियते धेनवश्च वीर्यवत्त-
 रोण जनेन दुह्यमाना भूयः पयो दुहन्ति न पुनर्दुर्वक्षीम । अतो-
 ऽत्रापि स्वाभिलषितदोहनार्थं धेनुकरणं वीर्यवता सम्पा-
 द्यन्तश्च वीर्यवत्तं † तिष्ठतः सम्भवतीति तिष्ठन्नेव धेनुः कुर्या-
 दिति भावः तिष्ठन्नपि कथं तिष्ठन् कुर्यादिति ॥ १४ ॥

तत्राह,— “उदङ् प्राडिति” ऐशानीदिगुच्यते । तदभि-
 मुखस्तिष्ठन्नित्यर्थः ‡ । लोके हि यजमानस्य पूर्वभागे धेनोः
 प्रत्यङ्मुखतयावस्थानो दोम्बृणाश्च प्रत्यङ्मुखा यास्तेन दक्षिणभाग
 उपसदनात् स्वाभिलषितदोहनार्थं इष्टकानां धेनुकरणे तथावस्थान
 सूचित मित्याह— “पुरस्तादा इति ॥ १५ ॥

प्रकृतं धेनुकरणे स्थानविशेषस्पर्शपूर्वकं मन्त्रं विधत्ते—
 “स यच्चेति । अग्नेरात्मभागस्योपरि यत्र स्पष्टु माप्नोति ‘तत्’
 स्थान मभिभृश इमं ने अग्न इति मन्त्रं जपेदित्यर्थः । अतएव

* “या”—इति भ्र ।

† ‘वीर्यवत्ते’—इति ज ।

‡ का० श्री० सू० १८ २. १० .

कात्यायनः— “आत्मन उपरि प्रापयान्ते जयतीमाम इति * ।
 अत्रात्मन इति अग्न्यात्मभागस्येत्यर्थः । अग्न्यादिव्यतिरिक्तासु
 बह्वीषु देवतासु सतीष्वपि मन्त्रे अग्नि मेष प्राधान्येन कि
 मिति सम्बोधयतीत्यत आह,— “अग्निर्हेतासा” मिति - अथ
 व्यापारे अवयविनः सामर्थ्यापलभादिष्टकानां मन्त्रव्यवस्थेनाग्नि-
 स्तासां करणे असमर्थ इति भावः मन्त्रे आदायकाश्च दशचेति ।
 अवसाने अन्तश्चापरार्द्धेति सङ्ख्याविशेष प्रयोगस्याभिप्राय
 माह— “एका च दशचेति । य एष परार्द्धो भूमा अपकृष्टं
 बहुत्वं अवरसङ्ख्यापर मसीमाशान्तपेक्षया दशत्वसङ्ख्या अवरा
 ततोऽप्यवरा एकच सङ्ख्या ततश्चावधिनायाः सङ्ख्याया अभा-
 वादिति । अतोऽन्तश्च परार्द्धेति यत् एष परार्द्धो भूमा
 उकृष्टं बहुत्वं अधिकसङ्ख्याकं दशशतसहस्रादिसङ्ख्यापेक्षया
 अन्तस्याधिकत्वं ततोऽपि परार्द्धेभ्यापिकत्वं तत उत्तरस्या
 अधिकसङ्ख्याया अभावादित्यर्थः । एवं च देवान् पून सङ्ख्या
 भूमा अधिक सङ्ख्या भूमा च मध्यतः शतादि सङ्ख्याकाः ।
 एनाः इष्टकाः परितो गृहीत्वा धेनुरकुर्वत । यत एव तस्मा-
 दिदानीं यजमानोऽपि एकाद्येत्यादिमं मन्त्रपाठेन तद्देव परिगृह्य
 धेनुः कुरुत इति । तन्वेवं सति मन्त्रे यत् सङ्ख्याकानां मिष्टकानां
 धेनूरूपता सम्पाद्यते तत् सङ्ख्याका इष्टकासां धेनवः क्रियन्ते ।
 तथाप्युक्तसङ्ख्यातिक्रमेण तदाह्वानुसारात् बह्वीः कर्तृराद्विद्ये-
 तेत्यर्थः । कथं तर्हीष्टकास्तत्सङ्ख्याका धेनवः सम्पाद्यन्त-

इत्यत आह,— “अमुत्र वा इति । एष यजमानो ऽसु-
भिन् लोके उपलक्ष्य मेतत् इहलोकेऽपि* ब्रह्मणा वृहता
वीर्यवता † तेन यजुर्मन्त्रेणैता इष्टका बह्वीः एकादिपरार्धान्त
सङ्घाकाः कुरुते, मन्त्र सामर्थ्यादल्पस्य बहुवचनम् ‡ ॥ १६ ॥

तैत्तिरीयके श्रूयते §,—“धान्यमसि धिनुहि देवान्”—इत्याह ।
एतस्य यजुषो वीर्येण यावदेका कामयते यावदेका तावदाहुतिः
प्रथमे न हि तदक्षिणावदेव स्यात् यावज्जुहोतीति मन्त्रे एका
च दशवेत्यादिनोत्तरोत्तराधिकसङ्घासन्तानस्य फल माह—
“अथेति । अथ तदेवेष्टका धेनुकरणं वाग्धेनुकरणात्मना
प्रशंसति— “यद्देवेति । मन्त्ररूपया वाचितत्वात् । अग्नि-
र्वागात्मकः एकस्वादिका अपि सङ्घाः वाचा प्रकाश-
मानत्वात् वागात्मिकाः एव भवति । अन्यवयवो भूताना
मिष्टकाना एकादश चेत्यादि सङ्घा प्रकाशनेन मन्त्रेषु देवा
वाचा मेव धेनु मकुर्वन् । अत इदानीन्तनोऽपि यजमानस्तत्र-
देव करोति । एकस्वादिसङ्घानां वागात्मकत्वात् उत्तरो-
त्तराधिकसङ्घासन्तानेन वाच मेव भूयसी मविच्छिन्नां सम्पा-
दितत्त्वाद्भवतीत्याह— “अथेति । ननु च . “इमा मे ॥ अग्न

* ‘इहाताकेऽपि’—इति भ ।

† ‘वीर्यवतेत्यर्थः’—इति ज, भ, ञ ।

‡ ‘बहुभवनम्’—इति ज, भ, ञ ।

§ तै० सं० १. १. ६ ।

॥ वा० सं० १७. २ ।

इष्टका धेनवः सन्वित्यनेनेवैव * धेनुरूपत्वं सम्पादनात् । पुन-
रपि तदेवैता मे अग्न इत्यादिना सम्पाद्यत इति । पौन-
रुक्त्या शक्त्वा त्रिवारयति । एतद्वा इति इमा मे अग्न
इत्येतैमेवा इष्टका अस्मिन्नोके धेनू करोति । अथैता मे अग्न
इत्यनेन अमुष्णिन्नोके स्वर्गे धेनू करोति अतश्च पृथग-
त्त्वात् पुनरुक्ति रितिभावः । इष्टकानां लोकद्वयेऽपि धेनु
रूपता सम्पादनस्य फल माह— “अथो हेति । तथासति एता
इष्टकारूपा धेनवः अस्मिन्नामुष्निषेत्युभयोर्लोकयो रप्येनं यज-
मानं भुञ्जन्ति पालयन्तोत्यर्थः । भुञ्जन्तीति भुजां नवमं
इत्यात्मने पदं विधानो अवन निषेधात् परस्मैपदम् । हे अग्ने इमा
इष्टका इहलोके एकत्वादि परार्थान्त सङ्ख्याविशिष्टा धेनव
केवलं हि मिहलोक एव किन्तु हे अग्ने अमुत्रेत्येतत् पदं
मन्त्र एव विहृणोति । अमुष्णिन्नोके इति तत्रापि एता इष्टका
मे धेनवः सन्विति मन्त्रस्यार्थः ॥ १७ ॥

अथ तत्रैव मन्त्रान्तरम् प्रदर्शयन् व्याचष्टे— “ऋतव
स्येति † । ऋतवो हीति एता इष्टका ऋतव खलु संवत्सरा-
त्मकस्याग्ने अवयवत्वादित्यर्थः । अहोरात्राणि वा इष्टका
इत्यत्राप्ययमेवाभिप्रायः । ऋतावुध इति छान्दसो दीर्घः ; ऋता-
वुध इति पुनर्वचन मादरार्थः । स्पष्ट मन्यत् ॥ १८ ॥

* ‘सन्ति यानेवैव’—इति भ्र ।

† वा० सं० १७. १ ।

“विराजो मामेत्यादिकस्याय मर्थः .— एतस्मिन् काले
 स्रुतु 'देवाः' यथा 'यथा एता इष्टका चाचक्षते' यैर्ना
 मभिरेना इष्टका चाचक्षते जना ते रेव ना मभिरेना इष्टका
 चाचक्षते जनाः ते रेव मामभिः स्वय मयाह्वयन्ताम् । ततश्चेता
 इष्टका एमान् देवान् 'अभ्युपावर्त्तम्' तत् समीप मगमत् ।
 'अथ लोकम्पृणा एव' अविहितनाम्नाः धेनुरूपतया अत्यर्थं मूषं
 विमृजस्यः ; परास्रुखा एव तस्युः अन्यासा मिष्टकानां
 स्वयमाह्वया रेतः सिग्विप्रज्योतिरपस्याप्राणभृदित्यादिकानि
 विद्यन्ते लोकम्पृणानाम् तदा प्रातिस्विकनामधेयाभावादि-
 ष्टकावत् स्वनामानाह्वानेन विमुखा भूत्वा अवस्थिताः *
 इत्यर्थः । पथाद्देवास्ता इष्टका विराजमानो रकुर्वन् † । अतः
 स्वय मपि तत् समीप मगमत् । अतएव तस्मादुपधाभावसरे-
 ऽपि लोकम्पृणा दशदशोपधाय मन्त्रेणाभिमन्त्रयते एवं च सति
 विराजो दशाक्षरत्वात् देवा विराजः कृतवान् भवतीति ।
 तस्मान् मन्त्रे लोकम्पृणा उद्दिश्य विराजो मामिति प्रयुक्त
 मिति ॥ १६ ॥

विशद मन्यत् ऋतवस्येत्यादि मन्त्रस्य योजनं यथा-
 श्रुत मेष इष्टकानां धेनुरूपता सस्यादनामन्तरम् “मण्डूकीनाव-
 कया वेतसशाखाभिरग्निस्वल्पस्य विकर्षणं विधत्ते— “अथेति ।

* 'वनस्थिरः'—इति ज ; 'वनस्थित'—इति झ ।

† 'रन्कुर्वन्'—इति क ।

एतद्वा इत्यादिकस्य सम्बन्धस्तु प्रागेवाभिहितः । विहितं तद्वि-
कर्षणं 'सर्वतः' कर्त्तव्यं मित्वाह ॥ २० ॥

सर्वत इति सर्वत्रापि विकर्षणं शमनार्थतां दर्शयति—
“यद्देवैर्न मिति । 'एन' मग्नि मण्डूकादिभि 'विकर्षति' इति
'यत्' यत्र एतत् कारणं खल्विति कारणाभिधानं प्रतिज्ञाय
'यच्चैत' मित्यादिना तत् प्रदर्शयति,— 'अपे' पूर्वं यत्र यस्मिन्
प्रस्तावे ऋषिशब्दाभिधेयाः 'प्राणा' एत मग्निं समस्कुर्वन् संस्कार-
प्रकारस्तु षष्ठकाण्डस्यादावुक्तः ; तदाति * प्राणास्त मग्नि 'अग्नि'
रेवोक्षितवतः ता अपः संस्कृत्वा 'मण्डूका' अभवत् ॥ २१ ॥

ततः प्रजापतिः प्रतिमांऽस्माकं रसो वाष्पादित्यद्विरुक्ते
स प्रजापतिर्व एतस्य 'रसस्य एव' वनस्पति वेत्तु इति
अब्रवात् । तस्येति कर्मार्थे षष्ठो एव इति प्रत्यक्षेण
निर्दिष्टम् । 'तं' वनस्पति वेतस इति परोक्षेणाप्याह ।
यत एव सुक्तं तेन वेतसोऽभूत् खलु 'तं' देवाः परोक्षकामत्वा
हेतस इत्याचक्षते । अथापौ यदब्रुवन् अवाक्तादृगादिति तस्मात्
स रस 'अवाक्ता अभवन्' । ताश्च देवताः परोक्षकामत्वा-
दवका इत्याचक्षते । “ता हैता इति । उक्त प्रकारेण
'मण्डूकाः' साक्षादेवापः वतसोऽपि तद्रसवेदानाम् अवकासुत
इमात्मकत्वादिति सर्वेप्येते मण्डूकादयः अवकात्मका इति ।
ता एता स्त्रिविधा आपः खलु तस्मात्ते रवकर्षणैरेता स्त्रिविधा-
भिरप्यद्विरेम मग्निं शमयितवाम् भवति ॥ २२ ॥

इत्थं मण्डूकादीना मवात्मकत्वेन शमयनार्थत्वं प्रद-
र्शाद्यनानैव कृत्स्नान्तरूपेण प्रशंसति,— “यद्देवेति । पूर्वं
। आसृष्टिनिःश्वनेन विस्रंसनेन परासुः प्रजापति इदानीं
अयमन्त्रक्षणेन संस्कारेण प्राणादीनां निधानात् पुन रुत्यद्यत
इति चायमानाग्निनक्षत्रः प्रजापतिर्जायत एव । जाय-
मानस्य च सर्वात्रभोज्यार्थं मेवोत्पत्तेः ; एषोऽपि सदस्मा अत्राय
जायते । मण्डूकादयश्च कृत्स्नं मन्त्रम् । तदेव प्रदृश्यते,—
“पशवश्च ह्येता इति । ‘एता मण्डूकावकावेतस शाखाः’ *
क्रमेण पशव आदौ वनस्पतयश्च भवन्तीति । मण्डूकादय
स्यावरजङ्गमात्मकं कृत्स्नं मन्त्रं अत्र प्रदृश्यते । मण्डूकादयः
सर्वे अपि च अवात्मकाः । तथापि अवकानाम्चैलेका यच्च नत्वाद-
प्राप्तिं वनस्पतिरूपत्वाच्च ता अपि इत्युक्तम् । एवञ्च सति मण्डू-
कादिभिविकर्षणेण एन मग्निं सर्वात्रक्षेण प्रीणातीति ॥ २२ ॥

विकर्षणेन वीतरसान् मण्डूकादयोऽनुपजीवनीयः असन्नि-
त्याह,— “मण्डूकेनेति पशूनाम् । पशूनां मध्ये मण्डूकेन विकृष्ट-
वानिति यत् यस्मात् पशूनां मध्ये मण्डूका गतदारत्वात्
पञ्चमत्तरवदुपकारको न भवतीति । सो अध्वर्यु रुच्यते एव
मेवावका अपि मत्साः पेयावान् भवतीति वेतसोऽपि वनस्पत्यन्तर-
वत् पुष्पकलादि नोपकारको न भवतीति । एते सर्वे अनुजीव-
नीयाः अभूवन्नित्यर्थः ॥ २४ ॥

मण्डलादिभिः कथं सम्भवतीति तदुपायं माह—
 स तानोति 'सोऽध्वर्युः' 'तानि' मण्डूकादीनि 'वंशे प्रबध्य'
 विकर्षणेनेति शेषः । पूर्वं मन्त्रिस्त्वस्य सामान्येन विकर्षणं
 मुक्तम् । अयेन विकर्षति । सर्वतो विकर्षतीति । तत्रे-
 दानीं कस्मिन् कस्मिन् प्रदेशे केन केन प्रकारेणेति विशेष-
 जिज्ञासायां माह ;— "दक्षिणाहनेति । परिश्रिता मन्त्ररेणाने-
 रात्मना भागस्य दक्षिणभागे प्रथमं 'प्राग्' अपवर्गं कर्षति ।
 "समुद्रस्यत्वेनेति * मन्त्रेणेत्यर्थः । दक्षिणाहनेति व्यत्ययेन
 तृतीया । समुद्रस्य त्वावक्यान्ने परिष्वयामसीत्यस्य तात्पर्यं माह
 — "समुद्रियाभिस्त्वेति । समुद्रशब्देनापि जलाशय उच्यते ।
 समुद्रसम्बन्धिभिरिति 'त्वां यमयाम' इत्येतदुक्तं भवति ।
 अवकाया अवकास्वात् तया सञ्चरणेन यमनस्य निष्पा-
 दनादित्यर्थः । "समुद्रियाभिरिति समुद्रा भावः † इति
 प्रत्ययः । तस्य चायनेयी इत्यादि सूत्रेणापि यादैयः । हे 'अन्ने'
 'त्वां' समुद्रसम्बन्धिन्या 'अवकया' यदि 'परिष्वयामसि' परितः
 शब्द गुणः इदन्तो मसि रित्युत्तमपुरुष बहुवचन सकार-
 स्यान्ते इकारागमः । तेन सञ्चरणेन यान्त स्व' 'अस्त्रभ्यं' अस्त्र-
 दर्धं पावयति शोधयतीति 'पावकः' पावयिता 'शिवः' यान्तः
 आनुकूल्यवान् भवेति मन्त्रस्यार्थः ॥ २५ ॥

* वा० सं० १७. ४ ।

† पा० सू० ४. ४. ११८ ।

उक्त प्रकारेण दक्षिणभागे विद्यन् पश्चिमभागे उद्गप-
वर्गे “हिमस्यत्वेत्यनेन मन्त्रेण † विकर्षेदित्याह,— “अथ
अथमार्षेनेति । ‘यद्दे शीतस्य’ इत्यादिकस्याय मर्थः— ‘यत्’
शब्द ‘शीतस्यापि प्रशीतं’ प्रकृतं शीतं ‘तद्विमस्य जरायु
जरायुशब्दो ‡ गर्भवेष्टनवचनः अतश्च जरायुर्यथा गर्भं माच्छा-
दयति तद्वदधिकं शीतमभिभवेमाच्छादयतीति । हिमस्य
जरायुचेति शीतादप्यधिकशीतत्वं युच्यते इति । अत्र अथा-
त्मका मण्डूकादय एव हिमस्य जरायुचेत्यनेन विवक्ष्यते । तेन च
शब्देन तेषां अभिधानं प्रकृत्यमनसमर्थत्वात् सूचनार्थं प्रिति
प्रतिपत्तव्यम् ॥ २६ ॥

अथोत्तरभागे प्राणवर्गं “उपज्जुपेति † मन्त्रेण विकर्षे-
वेति विधत्ते— “अथोत्तरार्षेनेति मन्त्रसु अष्टार्ष इत्याह
यद्येवेति ॥ २७ ॥

अथ पूर्वभागे “अथा मिह प्रित्वादि ‡ मन्त्रेण दक्षिणावर्गं
विकर्षेत्त्याह अथ पूर्वार्षेनेति । अथ अपि मन्त्रस्यष्टार्ष इत्याह—
“यद्येवेति हे अग्ने यदेतन् मण्डूकावकावेतसः शास्तावचनं
असु इदं अथाव्ययनं नितरां ज्ञानं अथा मस्वीयस्वेति तदयं
मस्यं सम्भवतीति । तत्राह समुद्रस्येति नद्यस्वीयसी मयानयन
मेतत् । अपि तु ‘समुद्रस्य’ अस्तनिधिरेव ‘निवेद्यनं’ निवे-

• या० शं० १७. ५ ।

† या० शं० १७. ६ ।

‡ या० शं० १७. ७ ।

यतेऽस्मिन्निति निवेद्यन् अधिकारये सुदुःखानि मित्यर्थः ।
एवञ्च तथाविधेन मन्वन्तादिना विद्वन्पदे यतः अतस्मात्
प्रयोमि ते इत्यस्यो ज्ञायाः अस्मादस्यां 'सुपन्तु अस्मभ्यं' तु त्वं
पादकं 'यिदञ्च' भवति मन्वन्तव्यः । तद्वागी विद्वन्पदप्रकार
इत्याभिनयेन दर्शयन् दक्षिणभागादिप्रसिद्धे विकर्षणात् सिद्धं
प्रादक्षिण्यक्रमं प्रयंसति । इत्यथे विकर्षतीति,— "देवचेति ।
देव मनुष्येभ्यो * सूत्रेण देवाभ्यं वा प्रत्ययः । देवं देवं देवोचितं
भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

आत्मभागविकर्षणञ्च प्राथमिकत्वं सुपप्रादयति,— "आ-
त्मान मिति दक्षिणार्धे नेत्यादिना विहितं विकर्षणं मन्वे-
रात्मभागे ऐव क्रियते । अतस्मान् आत्मानं विकर्षतीत्येतदुप-
पन्नं कुतः सम्भवति । जायमानस्य करचरणाद्यवयवजातस्य
मध्ये पूर्वमात्मभाग एव सम्भवति तत् सकाशात् करचरणादीनां
सुत्यप्तेरिति । अथ दक्षिणपक्षादीनां विकर्षणं विधाय तस्मात्सिद्धं
प्रादक्षिण्यं पूर्ववत् प्रयंसति ॥ २९ ॥

अथेति पक्षादीनां विकर्षणं आत्मभाग मभिसञ्च कुर्या-
दित्याह । अथात्ममिति अथात्मना मभि अथात्मं सञ्च-
नाभिप्रती आभि सुख इत्यव्ययवी भावसमासः । अथेति
समासान्तदृष्टं † विकर्षणानुसारेण 'मान्ति' निहितवान् भवती-

* 'देवमनुष्यपुरुषपुत्रमर्त्तव्यो द्वितीयाद्यन्वोर्बहुलम्— पा० सू०
५. ४. ५६ ।

† पा० सू० ५. ४. १०८ ।

त्याह । अभ्यास मेवेति कथं मन्त्राणां विकर्षणं भवतीति ;
तत्राह परस्मादिति । अथ दक्षिणपक्षादीनां विकर्षणेषु मन्त्रान्
विधत्ते, — अने पावक रोचिषेत्यादिना मन्त्रेषु * पावक-
शब्दप्रयोगस्याभिप्राय माह — 'पावकं' पावक मिति 'यत्' खलु
वस्तु 'शिवं' तस्यैवार्थं प्रदर्शनं 'शान्त' मिव तत् 'पावकं'
भवति । अशान्तस्य शुद्धि सम्पादकत्वात् अतश्चान्तेः शान्तता
सिद्धये तेन शब्देन सम्बोधन मिति ॥ ३० ॥

भावः विकर्षणे विनियुक्ताणां मन्त्राणां सप्तत्वसङ्ख्या प्रयंसति, —
"सप्तभि रिति । 'सप्तचित्तिकाऽग्नि' रित्यनेन 'सप्तर्षवः सम्बत्सरः
सम्बत्सरोऽग्नि' रित्यनेन च पृथगेवान्तेः सप्तसङ्ख्यायागः प्रदर्श्यते ।
पञ्च चित्तयो कित्वाः इतरे द्वे चित्ती नैमित्तिके इति सप्तचित्तयः
अधिमासापेक्षया सप्तर्षवः । यस्मिन् वंशे मण्डूकादीनि वशा
विजृष्टान्तं वंश मुत्कारे प्रदक्षिणेदित्याह तं वंश मिति ॥ ३१ ॥

अथैन मन्त्रिं परितः सामभिर्गायेदित्याह — "अथेति । विहितं
सामगानं ममृतरूपतया प्रयंसति । अत्रैव इति । कथं मितत्
साम्ना ममृतरूपत्व मिति, तत्राह — "सामानीति । ऋणात्मके
शरीरेषु स्थानाधिकारादि पञ्चभेदविशिष्टत्वात् वा साम्ना
प्राणत्वं प्राणशामृतं खलु प्राणसम्बन्धे मरणाभावात् । अतश्च
प्राण रूपेण साम्नामप्यधमजरूपत्वात् सामगानेना मृतं सुत्तमं
रूपं मस्त्रिसम्मी निर्द्धातीत्यर्थे तच्च सामगानं सर्वतः कर्त्तव्यं

मित्याह । “सर्वत इति । अतः पुनस्तदेव सामगानं प्रजा-
पति सम्बन्धिन आत्मनः अनस्थिकामृतरूपत्वसाधनतया प्रशं-
सति ॥ ३२ ॥

“यद्देवेन मिति । एतस्मिन् काले अतु ‘देवा’ ‘इमं
प्रजापतिसम्बन्धिन ‘आत्मानं’ शरीरं ‘अनस्थिकमत’ एव
‘कुर्वीमहीति’ अकामयन्त अस्याविनाशरत्वेन तद्विधिष्येस्यापि शरी-
रस्य विनाशरत्वात् तद्द्रवितं प्राणशरीरं कर्मलभ्यप्यनित्यर्थः ।
तत स्ते’ येन प्रकारेण ‘ममात्मान मनस्थिकं करवामह’
एतत् प्रकारं मुपजानीतेत्युक्त्वा पश्चात् कथं तत् ज्ञानोपय इत्य-
पेक्षायां “चेतयश्च मित्यब्रुवन् । तदाक्यश्च श्रुति स्वयं मेव विवृ-
णोति,—“चिति मित्यादिना । ‘चितिं’ विमर्शमिच्छतेति अतु
‘ते अब्रुवन्’ एव अपि किमर्थं मब्रुवन् मित्याशङ्क्याह “तदिच्छ-
तेति । तदिति निश्चयत्वयः येन प्रकारेण ‘ममात्मान मन-
स्थिकं’ कुर्वीं महि तत् प्रकारं परिचाय चितिं मिच्छतेति ब्रुव-
न्मित्यर्थः ॥ ३३ ॥

पश्चात्ते तथा विचारयमाणा स्तदुपायत्वेन एतानि कस्य-
माणानि गायत्र्यादीनि सामानि दृष्ट्वाते रं परि-गीयैत
मात्मानं यथोद्दिष्टं मकुर्वन् अतस्तद्देवं यजमानोऽपि कुर्वते
सर्वत इति । पूर्वादिभागेषु सर्वतो गानेन शरीरं सर्वतः
कात्स्न्येन मनस्थिकं ममृतं करोति । विहितं गानं मासो-
नेन तिष्ठता वाकार्षं मिति । तत्र स्वेच्छयान्यतरं प्रकारेण
तत् प्रसक्तौ नियमं माह — “तिष्ठन्निति । तत्र हीत्यस्यार्थं

विबरणं कृत्वा मिति । तत्र हिङ्गारे खलु कृत्वां साम
भवति । सामान्यरूपेण हिङ्गारे कृत्वा मपि सामवर्त्तत इति
अनेनैवाभिप्रायेण श्रुत्यन्तरेषुक्तं हिङ्करोति । सामै वा करोति ।
अथैवं सामभिः परिगायतीति सामान्येन विधानात् देवविशेषे
सामविशेषणान् मभिधत्ते ॥ ३४ ॥

“गायत्र मित्वादिना । ‘तत् सवितुर्वरेण्य’ * मित्वादिना
गायत्रा मृच्युत्पन्नं साम गायत्रम् । तत् पूर्वभागे गायेत् ।
एवञ्च गायत्रा अग्निना सहोत्पत्ते तत्रोत्पन्नस्यापि • सामो-
ऽग्नित्वाद्दस्य सञ्चिताखिलसञ्चयस्य प्रजापते रग्नि मेव शिरः
प्रदेशत्वात् किञ्चास्य शिर एवेतेन सामगानेन ‘अनखिलक ममृतं’
करोति ॥ ३५ ॥

‘अभित्वा शूरनोनुम’ † इत्येतस्या मृच्युत्पन्नं साम रथन्तरं
तद्विषयपक्षे गायेत् । एवञ्चास्य पृथिवी मेव दक्षिणं पश्च
कृतवान् भवतीति चाह— “रथन्तर मित्वादिनां अस्मात्

* गायत्रसाम ;—

तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

—इति उ० १ प्र० ३ अ० १० सू० १ ऋचि ।

† रथन्तरम् :—

अभि त्वा शूर नोनुमो ऽदग्धा इव धीमवः ।

ईशान मस्य अगतः खर्दंश मीशान मिन्र तस्युषः ।

—इति सू० ३ प्र० १ अ० ५ सू० १ ऋचि, आ० १ प्र० १ अ० ११ साम

हीति । “इमी इति । इत्सामिभ्येन दर्ययति । यत इमी सर्वे रसा चत्वा भवतिष्ठन्ते । अतोऽतिशयरसाधारत्वेन दर्य रसवतः रसतम एव रसंतमः † तच्च परोक्षकामत्वाद्देवा रसन्तर मभिदध इत्वर्यः ॥ २६ ॥

‘त्वामिद्वि इवाम’ † इत्सेतस्वा मृच्युत्पन्नं साम इहत् । तदु-
त्तरे पक्षे गायेत् । तत्रावद्विष मीवास्योत्तरं पक्षं कृतवान् भव-
तीत्याह — “इहदुत्तरे पक्ष इति । ‘वर्हिष्ठा’ अतिशयेन इहती
इहच्छब्दादतिशयार्थे इटनिटिलोपे च रूपम् ॥ २७ ॥

‘कयानश्चिन्न आभुवद्’ ‡ इत्सेत्वा मृच्युत्पन्नं साम वाम-
देवम् । तदात्मभागी गायेदित्याह । “वामदेव्य मिति । वाम-

• ‘रसतमः रसतम एव रसंतमः’—इति इ ।

† इहत्साम ;—

त्वा मिद्वि इवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।

त्वां वृत्रेभ्यिन्द्र सत्यतिं नरणां काष्ठास्वर्गतः ॥

—इति इ० १प्र० १अ० ५६० २ अचि, आ० १प्र० १अ० २७ साम ।

‡ महावामदेव्यसाम ;—

कया नश्चिन्न आ भुवदूति सदादधः चत्वा ।

कया अचिहया वृता ॥ १ ॥

कया सतो महानां मश्चिहो मत्सदन्धसः ।

उदाचिदावजे वसु ॥ २ ॥

अभी वृ नः सखीणा मक्लिता जरिगुबाम् ।

असम्भवास्तये ॥ ३ ॥

—इति उ० १प्र० १अ० १२६० १—२ अच्यु. उ० १५० १अ० ५ साम ।

भागे सामदेवस्य मानेन वायु मीवात्मानं करोतीत्याह । “प्राणो वा इति । “सर्वेषां तु इव देवानां मात्मा यदायुरिति । तद्भाः तेषां व्यवहाराभ वादित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अथ पुनश्च ‘यज्ञायज्ञीयं’ * साम गायेदित्याह,— ‘यज्ञायज्ञीय’ इति । ‘यज्ञायज्ञीय’ इत्येतस्या मृशुत्पन्नं साम यज्ञायज्ञीयम् । यज्ञायज्ञीयं यद्दोषि वस्तुति विगृह्य मतो ह्यः सूक्तसाज्ज्वा इति सामयज्ञीयः । इत्येव रयादेशः, अत्र यज्ञायज्ञीय इति । इत्यत्र चान्द्रसम् । यज्ञायज्ञीयश्च चन्द्रात्मतां प्रतिजानीते । ‘चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञीय’ इति । तदेवोपपादयति “यो हि कथेति । ‘यज्ञः सन्तिष्ठते’ सम्पूर्णता इति । तस्याहुतीनाम् रसा” एतं चन्द्रमस इति । अतएव देवास्तु सुपन्नोवन्ति । अतो यज्ञाहुति रसश्च चन्द्रं प्रति प्राप्तिद्वारा यज्ञायज्ञीयः कश्च एव यज्ञः एत मप्येति । तस्मात् ‘यज्ञो यज्ञ’ एत इतीति, चन्द्रमा यज्ञायज्ञीय इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अस्य यज्ञायज्ञीयस्य चन्द्रात्मकत्वम् । ततः किं प्रकृते समायात इति तु साह— चन्द्रमस इतीति “प्रजापतेर्हृदय इति । किञ्चित् साम तदप्यत्र गायेदित्याह— “अथेति । तत् साम आदित्यात्मना स्तीति । “असो वा इति । आदित्यस्य हृदय

* यज्ञायज्ञीय सामः—

यज्ञायज्ञीयो व्यस्ये गिरा गिरा च दक्षसे ।

प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियमिन्नम् शुश्रिसिषम् ॥

—इति ह्यं १ प्र० १ अ० ४८० १ अ०, गे० १ प्र० १ अ० २५ साम ।

सादृश्यं प्रदर्शनेनोक्तं प्रजापतेर्हृदयसादृश्यं प्रजापतेर्नोक्तं प्रजा-
पतेर्हृदयत्वं उपपादयति । 'सृष्ट्य' लक्षण एत इति । गायत्र्या-
दीनां गानस्य स्थान विशेष उक्तः । अथैतद्गानं कस्मिन्
स्थाने कर्तव्यं मिति तत्राह,— 'आत्मन्' इति आत्मभागेति ।
यत्र क्वचित्क्रियतेति तत्राह — "निकञ्च इति । निकञ्चावप्युभौ
विद्येते इति तत्रान्यतरस्मिन् क्रियसेत्यत आह — "दक्षिणे
निकञ्च इति । अतोऽस्मात्त्रिकञ्चा हृदयं 'ने दीय उत्पन्न'
सन्निहितं तदीय इत्यस्यान्तिकार्यत्वात्तयोगे 'दूरान्तिकार्यैः
पठान्यतरस्या' * मिति पक्षे प्रकरणात् पञ्चम्याधिधानादत
इति पञ्चमो इत्यं प्रजापते हृदयस्यादित्यात्मकत्वात्तस्य
मानेनादित्य मेवाग्ने रात्रमभागं करोतीत्याह,— "आदित्य
मेवेति ॥ ४ ॥

प्रजापतेर्हृदयं गायत्र्यादिसामवत् च कस्याश्चिदपि न गीयते ।
अपि तु केवलं प्रजाशब्दे प्रजापतिशब्दे च गीयते अतएव आप-
स्तम्बेन सूचितं,— "प्रजापतेः सामानृचं गायतीति † अतस्तस्य
साम स्तयोः शब्दयोगानं पशंसति,— "प्रजासु वेति । न च
ता प्रजासु प्रजापता वित्यभिधेय निर्देशः क्रियते नहि तत्र
गानं सम्भवति अशक्यत्वात् नचाय शब्दनिर्देशः । प्रजास्त्विति
बहुवचनव्यर्थ्यात् । अतः कथं मस्य वचनस्योपपत्तिरिति
नैतदस्ति वाच्यवाचकयोर्भेद विवक्षया वाचकशब्दे क्रियमाणं गानं

* पा० सू० २. ३. ३४ ।

† आप० प्रौ० सू० २. १२. ७ ।

वाच्ये क्रियते इत्युपचर्यते । तद्यत् 'प्रजासु हृदयं दधाति'
अथ 'यत् प्रजापता गायति तदग्नी हृदयं दधातीति' ।
अभिधेयेफलसम्बन्धदर्शनात्तदनुरोधेवाभिधेये एव गायतीति ।
उपचारोक्तेरभिप्रायः पूर्वं प्रजा प्रजापतिशब्दयोर्गानेन प्रजासु
अग्नी च हृदयं निधीयते इत्युक्तम् ॥ ४१ ॥

अथाग्ने स्तदुभयात्मकत्वात् तत्रैव गाने तत्रोभयत्रापि हृदयं
निधीयते इत्याह, — "यद्वेति । प्रजाशब्देन प्रजापतिशब्देन च
तस्य गाने मग्ना क्रियते । अतश्च पूर्वस्तच्छब्दयाभिधेयप्राधान्ये-
नाग्ने रूपमर्जनत्वं मुक्तम् । अत्र तु अग्निप्राधान्येन तच्छब्दद्वया-
भिधेयस्योपमर्जनत्वं सुच्यते इति विभागः । "अथं वा अग्निः
प्रजासु प्रजापतिश्चेति । स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसताया मेव 'स
योऽय मग्निश्चियते इति श्रुतेः अग्निस्तावत् प्रजाः प्रजापतेश्च
सर्वप्रजा निर्मातृत्वेन तदात्मकत्वात्तद्वाराग्निरपि प्रजात्मक
इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अथैतानि गायत्र्यादीनि सामानीष्टकारूपेण स्तौति— "ता
हेता इति । सामानि भवन्ति प्राणा वै सामान्यमृतं मु वै
प्राणा अमृतं मेवास्मिन्ने तद्रूपं मुत्तमं दधातीति सामान्ता-
वद मृतत्वं मुक्तं मेव इष्टकानां प्रतिदिशं मुपधीयमानत्वा-
दुपधानवादे तेषां प्रतिदिशं गानादिष्टकास्वोपचारः । एवञ्च
ज्ञान्येतानि सामान्यमृतेष्टका भवन्ति । "ता हेता इति
स्त्रैलि इविशेषेष्टका पक्षे तासेष्टका उत्तमाः सर्वाभ्य इष्टकाभ्यः
उरारि य उरारि य उरारि ति । तेनास्य दृश्यमानस्य

सर्वस्याप्यमृतं मुत्तमं दधाति । तस्मादस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्या
मृतं मुत्तमं भवति । विहितं सामगानं समाख्यानादुक्तातुः
प्राप्नोतीति । तदपवादो माह— “नान्योऽध्वर्योरिति । इतरस्य
गात्तृत्वे दोषो माह— ‘इष्टका वा एता इति । एतेषां साम्ना
मिष्टकास्वादिष्टकानां चाध्वर्युणोपधेयत्वादितरस्य * गात्तृत्वे तदु
पधानवैधुर्येणाध्वर्युर्भिर्जितः पराभूतो भवेदित्यर्थः ॥ ४३ ॥ २ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
नवमकाण्डे प्रथमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्गगर्भम् ,
ममाब्धीन् पञ्चमोरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूर्मीः ।
रत्नोस्त्रां रुक्मवाजिद्विपमहितरथी सायणिः सिङ्गणार्यो ,
व्यश्राणोद्विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्गाजं वर्णमुत्थः ,
 कार्पासीयं क्षपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।
 आय्योत्यं प्राज्यजन्मा सवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,
 रत्नाब्धो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पाचसात्सिङ्गणायः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचितं माध्वीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथशास्त्रभाष्ये

नवमकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

उपवसथीयेऽह्नात्प्रारुदितः ऽपादित्ये * । व्याचं
व्विसृजते व्याचं व्विसृज्य पञ्चगृहीतं माज्यं गृह्णीते
तत्र पञ्च हिरण्यशकलान् प्रास्यत्यथैतत् अयत्
समासित्तं भवति दधि मधु घृतं पाल्यां वा स्थाल्यां
व्वोरुबिल्या तदुपरिष्ठाद्दर्भमुष्टिं निदधाति† ॥ १ ॥

अथाग्निं मारोहति । नमस्ते हरसे शोचिषे
नमस्ते ऽपस्त्वर्चिष ऽइत्यत्रैष सर्वाऽग्निः संस्कृतः
स एषोऽत्र तस्मा ऽचलं यद्विऽस्याद्यं जिहिऽ-
सिषेद्यं मु वा ऽप ऽहिनस्ति हरसा वैनऽ शोचिषा
व्वार्चिषा वा हिनस्ति तयो हैन मेष एतैर्त्र हि-
नस्तन्यांस्तै ऽपस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽपस्मभ्यऽ
शिषो भवेति यथैव यजुस्तया बभुः ॥ २ ॥

आरुद्धानिऽ स्वयमातृणां व्याघारयति ।
आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बभुः ॥ ३ ॥

* 'व्यादित्ये'—इति ग, घ ।

† 'निदधाति'— इति ग, घ ।

स्वयमात्स्नां व्याधारयति । प्राणः स्वयमात्स्ना
प्राणे तद्वत् दधाति * ॥ ४ ॥

यदेव स्वयमात्स्नां व्याधारयति । उत्तरवेदि-
हैप्रान्नेरथ या ममं पुष्पां व्याधारयत्स्वध्वरस्य साय
हैप्रान्नेस्ता मेतद् व्याधारयति ॥ ५ ॥

पश्यस्तव हिरण्यं व्याधारयति । प्रत्यक्षं वै
तद्यत् पश्यति प्रत्यक्षं सोत्तरवेदिः प्रास्ता एवेह
भवन्ति परोऽक्षं वै तद्यत् प्रास्ताः परोऽक्ष मिय
मुत्तरवेदिः ॥ ६ ॥

स्वाहाकारेण तां व्याधारयति । प्रत्यक्षं वै
तद्यत् स्वाहाकारः प्रत्यक्षं सोत्तरवेदिर्व्वेत्कारेणे-
मां परोऽक्षं वै तद्यद्वेत्कारः परोऽक्ष मिय मुत्तर-
वेदिराज्येनाज्येन अत्तरवेदिं व्याधारयन्ति पञ्च-
गृहीतेन पञ्चगृहीतेन अत्तरवेदिं व्याधारयन्ति व्यति
हारं व्यतिहारं अत्तरवेदिं व्याधारयन्ति† ॥ ७ ॥

* 'दधाति' -- इति ख ।

† 'व्याधारयन्ति' -- इति ख ।

नृषदे व्वेडिति । प्राणो वै नृषन् मनुष्या
 नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणो ऽग्निस्तु मेतत् प्रीणात्प्र-
 षुषदे व्वेडिति यो ऽस्वग्निस्तु मेतत् प्रीणाति
 बर्हिषदे व्वेडिति य षोषधिष्वग्निस्तु मेतत् प्री-
 णाति व्वनसदे व्वेडिति यो व्वनस्पतिष्वग्निस्तु
 मेतत् प्रीणाति स्वर्व्विदे व्वेडित्यय मग्निः स्वर्व्वि-
 दिम मेवैतद्ग्निं प्रीणाति ॥ ८ ॥

यद्वाह । नृषदे वेडप्पुषदे वेडित्यस्यै वैता-
 न्यग्निर्नामानि तान्येतत् प्रीणाति तानि इविषा
 देवतां करोति यस्य वै देवतायै इविर्गृह्यते सा
 देवता न सा यस्यै न गृह्यतेऽथो ऽएतानेवैतद्ग्नौ-
 नस्मिन्नग्नौ नामग्राहं दधाति ॥ ९ ॥

पञ्चैता आहुतीर्जुहोति । पञ्चचितिकोऽग्निः
 पञ्चऽक्षरः सव्वत्सरः सञ्चत्सरो ऽग्निर्यावानग्निर्याव-
 त्वस्य मात्रा तावतैवैन मेतद्ग्न्येन प्रीणाति* ॥ १० ॥

अथैनं समुचति । दधा मधुना घृतेन

जायत ऽप ष एतद्यञ्चीयते स एष सर्व्वस्मा ऽपन्नाय
जायते सर्व्वमेतदन्नं यद्दधि मधु घृतं सर्व्वै-
वैन मेतदन्नेन प्रीणाति सर्व्वतः समुच्चति सर्व्वत
एवैन मेतत् सर्व्वणान्नेन प्रीणाति ॥ ११ ॥

यद्द्वैवैणं समुच्चति* । अथैष सर्व्वो ऽग्निः
संस्कृतस्तस्मिन् देवा एतद्रूप मुत्तमं मदधुस्तथैवा-
स्मिन्नय मेतद्रूप मुत्तमं दधात्यन्नं वै रूपं मेतदु
परमं मन्नं यद्दधि मधु घृतं तद्यदेव परमं रूपं
तदस्मिन्नेतदुत्तमं दधाति सर्व्वतः समुच्चत्यपि
बाह्येन परिश्रितः सर्व्वत एवास्मिन्नेतद्रूपं मुत्तमं
दधाति दमेस्ते हि शुश्रा मेध्या अथैरयं हि
देवानाम् ॥ १२ ॥

यद्द्वैवैणं समुच्चति । एतदे वचैतं प्राणा
क्षययोऽयं ऽग्निं समस्कुर्व्वं स्तदस्मिन्नदोऽमुं पुर-
स्ताद् भागं मकुर्व्वताद्ः सजूरब्दीय मथास्मिन्नेतं
सञ्चितं ऽउपरिष्ठाद् भागं मकुर्व्वत तद्यत् समुच्चति

यु ऽएवाम्निंस्ते प्राणा ऋषयः सञ्चित ऽउपरिष्ठाद्
भागं मकुब्धत तानेवैतत् प्रीणाति दधा मधुना
घृतेन तस्योक्तो बन्धुः ॥ १३ ॥

ये देवा देवानाम् । यज्ञिया यज्ञियाना
मिति देवा ह्येते देवानां यज्ञिया उ यज्ञियानाः
संवत्सरीण सुप भाग मामत ऽइति संवत्सरीणः
ह्येत ऽएतं भाग मुपासते ऽहुतादो हविषो यज्ञे
ऽअस्मिन्नित्यहुतादो हि प्राणाः स्वयं पिबन्तु मधुनो
घृतस्यति स्वयं मस्य पिबन्तु मधुनश्च घृतस्य चेत्ये-
तत् * ॥ १४ ॥

ये देवा देवेषु † । अधि देवत्व मायन्निति देवा
ह्येते देवेष्वधि देवत्व मायन्ते ब्रह्मणाः पुर ऽएतारां
ऽअस्येत्यय मग्निब्रह्म तस्यैते पुर ऽएतारां येभ्यो न
ऽऋते पवते धाम किञ्चनति न हि प्राणेभ्य
ऽऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या

* 'चेत्येतत्' - इति ग ।

† 'देवेषु' इति ख, 'देवेषु' - इति ग ।

ऽअधि स्तुष्विति नैव ते दिवि न पृथिव्यां यदेव
प्राणभृत्स्मिंस्त ऽइत्येतत् * ॥ १५ ॥

द्वाभ्यां समुन्नति । द्विपाद्यजमानो यजमानो
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतत्
समुन्नति † ॥ १६ ॥

अथ प्रत्यवरोहति । प्राणदा अपानदा ऽइति
सर्वं हेतुं प्राणा योऽय मग्निश्चितः स यदेता मत्रा-
त्मनः परिदां न वदेतात्र हेवाख्येष प्राणान् वञ्ची-
ताथ यदेता मत्रात्मनः परिदां वदते तथो हाख्येष
प्राणान्न वृङ्क्ते प्राणदा अपानदा व्यानदा व्वर्ची-
दा व्वरिवोदा इत्येतद्वा मे ऽसीत्येवैतदाहान्यांस्ते
ऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽअस्माभ्यं शिवो भवेति
यथैव यजुस्तथा बन्धुः ‡ ॥ १७ ॥

प्रत्येत्य प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचरति । प्रवर्ग्योप-

* 'इत्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'समुन्नति'—इति ङ ।

‡ 'बन्धुः'—इति ङ ।

सङ्गां प्रचर्याथास्मै व्रतं वार्हव्रतं वा प्रयच्छ-
त्यथ प्रवर्ग्योपसङ्गा मथ प्रवर्ग्य मुत्सादयत्याण्त्वा तं
कामं यस्मै कामायैनं प्रवृणक्ति ॥ १८ ॥

तं वै परिष्यन्द ऽउत्सादयेत् । तप्तो वा ऽएष
शुशुचानो भवति तं यदस्या मुत्सादयेदिमा मस्य
शुगृच्छेद्यदप्सूत्सादयेदपोऽस्य शुगृच्छेद्य यत् परि-
ष्यन्द ऽउत्सादयति तथो ह नैवापो हिनस्ति नेमां
यदहाप्सु न प्राच्यति तेनापो न हिनस्यथ यत्
समन्त मापः परियन्ति शान्तिर्वा ऽआपस्तेनो ऽइमां
न हिनस्ति तस्मात् परिष्यन्द ऽउत्सादयेत् ॥

॥ १९ ॥

अग्नौ त्वेषोत्सादयेत् । इमे वै लोका एषो
ऽग्निरापः परिश्रितस्तं यदग्ना ऽउत्सादयति तदे-
वैमं परिष्यन्द ऽउत्सादयति * ॥ २० ॥

यद्देवाग्ना ऽउत्सादयति । इमे वै लोका एषो
ऽग्निरग्निर्वायुरादित्यस्तदेते प्रवर्ग्याः स यदन्यत्रा-

* 'ऽउत्सादयति' -इति ख ।

ग्नेरुत्सादयेदेतांस्तद्देवान् बहिर्द्भ्यो लोकेभ्यो दध्या-
दथ यद्गना ऽउत्सादयत्येतानेवैतद्देवानेषु लोकेषु
दधाति * ॥ २१ ॥

यद्देवाग्ना ऽउत्सादयति । शिर ऽएतद्यज्ञस्य
यत् प्रवर्ग्य ऽआत्माय मग्निश्चितः स यदन्यत्राग्ने-
रुत्सादयेद्बहिर्द्भ्योऽस्माच्छिरो दध्यादथ यद्गना ऽउत्-
सादयत्यात्मानं मेवाख्यैतत् संस्कृत्य शिरः प्रति-
दधाति ॥ २२ ॥

स्वयमातृक्षया सृष्टुं स्पृष्टं प्रथमं प्रवर्ग्यं मुत्साद-
यति । प्राणः स्वयमातृमा शिरः प्रवर्ग्यं आत्माय
मग्निश्चितः शिरश्च तदात्मानं च प्राणेन सृज्जनोति
सन्दधात्युत्साद्य प्रवर्ग्यं यथा तस्योत्सादनम् ॥
॥ २३ ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२. १.]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निश्चमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेतरम् ॥ १ ॥

औपवसथ्यदिवसात् प्राचीने दिवसे कर्त्तव्यं प्रयोग मभि-
धाय तथा तस्मिन् दिवसे कर्त्तव्य मभिधत्ते । “उपवसथी-
येद्गन् इत्यादिना । ‘प्रातरुदित आदिचे वाचं विसृजते’ च
यजमानः वाचं विसृज्येत् । यत्र पूर्वकाले मात्रे जा प्रत्ययः
न हि तत्र पूर्वोत्तरपक्रियायाः समानकर्त्तृत्व मस्ति । यज
मानस्य वाग्विमर्जनादध्वर्योराज्यप्रहणादिति पात्रो यथावा
कारा स्यात्नी तु पिठरा कारां * उरुबिल्या महामुखां
व्यत्ययेन डी-प्रत्ययः । “तदुपरिष्ठादिति । यत्र प्राच्यां स्यात्यां
वा दध्यादिव्ययं समासितं तदुपरिष्ठादित्यर्थः ॥ १ ॥

अथान्नि मारोहतीति “दर्भमुष्टि निधामानन्तरम् तदाज्यं
दध्यादिव्ययं समासितं तदुपरिष्ठात्तादाय “नमस्त † इति मन्वे-
णान्नि मारोहेत् । अतएव कात्यायनः,— “उभय मादाय
चित्यारोहणं नमस्त इति ‡ इति । आरोहणे नमस्त इत्यस्य मन्त्रस्य
पूर्वाहस्य घाठे प्रयोजन माह— “अथैष सर्वोऽग्नि रिति ।

• ‘पिठरांकासु (रुबि)ल्यां (१)’—इति ह ।

‘पिठरांकां उल्यां’—इति भ ।

‘पिठरांकां उल्यां’—इति अ ।

† वा. सं. १७. ११ ।

‡ का. श्रौ. सू. १८. ३. ५ ।

अत्रास्मिन्नवसरे एषोऽग्निं सर्वं संस्मृतः साकल्येन कृतसंस्कारः
 अतोऽत्र स एषोऽग्निं यद्दत्तु द्विस्यात् यं जिहंसिषेत् तस्मै अक्षं
 समर्थं हननेच्छयाहननस्य चेत्युभयस्यापि समर्थं स च यं हिनस्ति
 एतं 'हरसा शोचिषा वा हिनस्ति' । अतश्चास्य मन्त्रभागस्य
 पाठेन एन मध्यं एतै हरःप्रभृतिभिर्न हिनस्ति । हरं
 इति हरणसमर्थं तेजः वोच इति शोचनसमर्थं अर्चिरिति
 दहनने प्रशस्तं तेजः । मन्त्रस्य द्वितीयार्थं स्पष्टार्थं मित्याह ।
 अन्यास्ते अक्षदिति हे अन्नं हरसे नमोऽस्तु शोचिषे नमो-
 ऽस्तु तथा ते अर्चिषे नमोऽस्तु । अन्यास्ते अन्यात् अक्षच्छत्रम्
 ते हेतयः हरः प्रभृतय स्तपन्तु । अक्षभ्यन्तु त्वं पावकः
 शिवश्च भव ॥ २ ॥

अग्निं मारुह्य किं कुर्यादत आह— "आह्वयान्नि मिति ।
 प्रथम मध्यमोत्तमासु चित्तु तिस्रः स्वयमाहृषां उपधीयन्ते ।
 तत्र तृतीयायां स्वयमाहृषायां व्याघारणक्रियाया इप्सित-
 तमत्वात् मध्यमो स्वयमाहृषा मिति द्वितीया व्याघारणं नाम
 एकस्मात्कोणात्कोणान्तरं प्रत्याज्यधाराधारणम् । तच्च व्याघारणं
 पक्ष गृहीतमाज्येन क्रियेतेति * तस्योभयस्य ब्राह्मणं प्रागुक्त
 मित्याह— "आज्येनेति ॥ ३ ॥

अथ व्याघारणस्य स्वयमाहृषा धारकत्वं प्रशंसति । स्वय-
 माहृषायाः प्राणत्वं सप्तमकाण्डे † ऽभिहितम् । प्राणो वै स्वय-

* का० श्रौ० सू० १८. ३. ६ ।

† पुरस्तात् ७का० ४अ० २ब्रा० २ क०डी (पृ० २६३ प० १६) ।

मातृसा प्राणोद्येवैतत् स्वयमात्मन आत्मन्ते इति । अतश्चान्नि-
सम्बन्धिनि प्राणे तदाज्यलक्षणमन्त्रविहितवान् भवति । प्रका-
रान्तरेणापि स्वयमातृसायां व्याघारणमुपपादयति ॥ ४ ॥

यद्देवेति । एषा स्वयमातृसा अग्ने रुत्तरवेदिः (असु ।
अथ या ममुम् बुद्धी परामर्शपूर्वा रुत्तरवेदिं व्याघारयति ।
सा पुनः सोमयागस्य अतोस्यां स्वयमातृसायां व्याघारणाद्ये
रुत्तरवेदिः) * तर्हि तद्वाघारणे पूर्वोत्तरवेदिवत् ॥ ५ ॥

हिरण्यदर्शनादि † पूर्वकत्वेन भवितव्यमित्यत आह—
“पश्वं स्तत्रेति । प्रत्यहं सोत्तरवेदिसंयुक्तमन्त्रादि निर्मितत्वा-
भावेनोपचारिकोत्तरावदित्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

स्वाहाकारस्य सर्वत्र इविःप्रदानसाधनत्वेन प्रत्यहं वेत्-
कारस्य ‡ तु हयाभावेन परोक्षत्वं चाज्येन पञ्चगृहीतेन
व्यतिहारमुत्तरं वेदेर्व्याघारणात् तथैवास्या अपि उत्तर-
वेदिस्त्वेन व्याघारणमुपपन्नमित्याह । “आज्येनेत्यादिना ।
व्यतिहारमित्त्वनेन पूर्वं दक्षिणांशे व्याघारणं तत उत्तरत्रोणी
पश्चाद्दक्षिणत्रोणी तत उत्तरांशे तत मध्ये इत्ययं क्रमो
विवक्षितः ॥ ७ ॥

अथ क्रमेण मन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे । “नृषदे वेडिति
एषु सीदतीति । नृषत् इति प्राणव्यतिरिक्तमपि वक्तं

* ‘बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे नास्ति

† का० श्रौ० सू० १८. ३. ७ ।

‡ वा० वं० १७. १२ ।

शक्यत इति विवक्षितोर्थो दर्शितः— “प्राणो वै नृषन्निति ।
 नृषदित्यत्र नृ-शब्दस्य प्रसिद्ध एवार्थो विवक्षितो नेतर इत्युक्तं
 मनुष्या नर इति एतन् मन्त्रसाध्यव्याघारणस्य फल मुक्तम् ।
 “तद्योऽय मिति । वेडिति सम्प्रदानार्थीयो निपातः । नृषदे
 मनुष्येषु वर्त्तमानाय प्राणरूपायाग्नये वेट् इद माण्य-
 रूपं हविर्दत्त मित्यर्थः । “अय मग्निः स्वर्विदिति । ‘अयं’
 सवित्रोग्निः ‘स्वर्वित्’ स्वर्गं लभयतीति स्वर्वित् अष्टार्षं
 मन्यत् ॥ ८ ॥

प्रकारान्तरेण मन्त्राणा मभिधानं प्रशंसति— “यद्देवाह
 अप्सुषदे वेडिति * इत्यत्रेति शब्दः प्रकारवाचीनेन बर्हिषदे
 वेडित्यादीन्यपि संगृहीतानि भवन्ति । एतानि नृषदित्या-
 दीनि अस्यैव सञ्चितान्नेर्नामानि अस्य सर्वात्मकत्वेन मनुष्यादि-
 स्थिताग्न्यात्मकत्वात् । अत एतेन नान्येवनामानि प्रीणित-
 वान् भवति । न केवलं तेषां प्रीणनं अपि तदेव तादृ-
 सम्पत्तिरपीत्याह,— “तानीति । ‘यस्यै खलु देवतायै हविर्गृह्यते
 सा देवता न’ भवति । अतोऽत्र नृषदादि नामानि चतुर्थ्यं
 तान्युच्चार्यहोमविधानात्तदर्थं हविर्ग्रहण मिति हविषा तानि
 नामानि देवतां कृतवान् भवति । किञ्च नृषदादि शब्दाभि-
 धेयानाग्निनामयाह मस्मिन् सञ्चितेऽसौ निदधाति ॥ ९ ॥

आहुतीनां पञ्चत्वसङ्ख्याग्नेः कात्स्न्येन प्रीति भवतीत्याह,—

* का० श्रौ० सू० १८. ३. ६ । वा० सं० १७. १२ ।

“पञ्चैता इति । पञ्चगृह्योत्त माज्यं दध्यादिकञ्चेयुभय मव्यग्ने-
रुपयानौतं तत्राज्यस्य विनियोगोऽभिहितः ॥ १० ॥

अथावशिष्टस्य विनियोगं माह— “अथैन मिति । तदु-
पयोगं माह, “जायत एष इति ॥ ११ ॥

दध्यादीनां बहुत्वात् सर्वात्मत्वं विहितं तत् समुच्चयं
परिश्रित्तौ बहिरपि कसंख्यं मित्याह,— “सर्वत इति * ।
उपरिष्ठाद्दर्भमुष्टिं निदधातोत्युक्तान् दर्भान् समुच्चये विनियुज्य
प्रशंसति— “दर्भै रिति । ‘अग्रं हि देवाना मिति’ हि शब्दः
शास्त्रान्तरप्रसिद्धिं द्योतयति । अतएव तैत्तिरीयके श्रूयते,— “यत्
परुषि दिनं तद्देवाना मिति” † । अथ तै देध्यादिभिः समुच्चये
नास्मिन् संस्कृतेऽग्नौ उत्तमरूपनिधानं भवतीति प्रशंसति । यद्देवेति
‘अग्रं वै रूप’ मित्यादिना परमरूपत्वं सुपपाद्यते । अत्रन्तावद्दू-
पकारणत्वाद् रूपं परमत्वं तु दध्यादीनां रसातिशयवत्त्वादिति
दध्यादीनि परमं रूपं मित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ पुनस्तान्येव दध्यादीन्यपेरुपरिष्ठाद्भागरूपेण प्रशं-
सति— “यद्देवैन मिति । अग्ने पूर्वं ‘यत्र’ यस्मिन्नवसे
ऋषिशब्दाभिधेयाः ‘प्राणा’ विस्रस्तं प्रजापतिं ‘समस्कुर्वन्’
तददः काले ‘अदः’ शब्दस्तस्य कालस्य विप्रकर्षं मभिधत्ते ।
‘अमुं भागं’ मकुर्वत ‘अमु’ मित्यपि विप्रकृष्टो भाग उच्यते ।

* “सर्वतः समुच्चयपि बाह्येन परिश्रित इति”—इति का० श्रौ०

ख० १८. ३. ८ ।

† तै० ब्रा० १. ६. ८. ६ ।

‘अमुं भाग’ मिति यदुक्तं तदेवाह अतः (!) ‘सजूरद्धीव’ मिति सजूरद्धो ऽअयवोभिरित्येतेन मन्त्रेण प्रतिपादितं होमरूप मन्त्रं अथास्मिन् सञ्चितेऽग्नौ एवं तं दध्यादिलक्षणं सुपरिष्ठाङ्गं मकुर्वतानेव प्रीणाति । सञ्चितस्वाग्नेः प्राणविशिष्टत्वेन प्राण-
कृतोग्नेर्भागः प्राणाना मपि भवतीति तस्याग्नेरनेनोपरिष्ठाद्-
भागेन ‘तानेव’ प्राणान् प्रीणितवान् भवतीत्यर्थः । दध्यादि-
विषयं ब्राह्मणम् प्रागुक्तं मित्याह,— दध्नेति । तच्च सप्तम-
काण्डे कूर्मोपधानकथनावसरेऽभिहितम् * ॥ १३ ॥

अथ समुच्चये प्रथमं मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे — “ये देवा देवाना
मिति † देवा ‘यज्ञियानां’ यज्ञार्हाणा मपि यज्ञियं तत् पूर्व
कथं मेव सर्वेषां यज्ञार्हत्वादित्यर्थः द्वितीयं तृतीयं मादौ प्रसिद्धार्था
वित्याह ‘संवत्सरीणा’ मिति । एतस्य समुच्चयस्य संवत्सराद्
क्रियमाणत्वादेतत् ‘संवत्सरीणो भाग’ यतः प्राणादध्यादीनाहुता-
न्येषादग्निं अतोऽहुतादौ ‘हविष’ इत्युक्तम् । चतुर्थपादे मधुनो
धृतस्येत्यनेन प्रकृतं मेव मध्यादि उच्यते इत्याह— (“संवत्स-
रीणा मिति । एतस्य समुच्चयस्य संवत्सराद् क्रियमाणत्वा-
देतत् ‘संवत्सरीणो भाग’ यतः) ‡ स्वयमस्येति ॥ १४ ॥

अथ द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे—“ये देवा देवेष्विति § । ‘देवाद्येते’

* पुरस्तात् ७ का० ४ प्र० १ ब्रा० १ कण्ठी ।

† वा० सं० १७. १३ ।

‡ बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

§ वा० सं० १७. १४ ।

इति । एते देवाः प्राणादेवेषु 'अधि देवत्वं' अधिका देवास्तेषां भावस्तत्र 'मायन्' प्राप्नुवन् तां प्रति स्तेषां मुपजीव्यत्वात् । अत उक्तं 'ये देवा देवेष्विति' द्वितीयपादे सर्वात्मकत्वम् । ननु हृत्वाह्वयशब्देनाग्निं कथ्यत इत्याह,— "अयमग्निरिति । तृतीयपादः प्रसिद्धार्थं इत्याह— "न हि प्राणेभ्य इति । तुरीयपादे ऽभिप्रेतं विशेषमाहानेवति इति । 'ते' प्राणादित्यपि 'न' सन्ति पृथिव्या मपि न सन्ति 'किं' तु यदेव प्राणभृदस्तु तस्मिन् सन्तीत्येतदुक्तं भवति । देवानां मपि देवा यज्ञियानां मपि यज्ञिया वै प्राणाः संवत्सरं सम्बन्धिनं भागं मुपासते । अस्मिन् पक्षे इषिषा हुताश्रयात्परं स्ते स्वयमस्य मधुनो घृतस्य पिवन्तु मधुनो घृतस्येति व्यत्ययेन कर्मणा षष्ठी, मधु घृतं उपलक्षणं मितत् । दध्यपि पिवन्त्विति प्रथमस्यार्थः । ये देवाः देवेष्वपि अधिक-देवत्वं प्राप्नुवन् किञ्च ये अस्या अग्नेः पुरो गन्तारो भवन्ति येभ्यो विना किञ्चिदपि शरीरं न प्रवर्तते प्राणा दिवः सानुषु पृथिव्या अपि सानुषु न सन्ति । किन्तु यदेव प्राणभृत् तत्रैव सन्तीति द्वितीयस्यार्थः । 'सानु' शब्दस्य (यदादिषु मासृत् स्थूना मुपसङ्गा मितित्वात् . पादेशम् । समुच्चण-मन्त्रयो द्वित्वसङ्गां अग्नेः समुच्चणसाकत्ये हेतुत्वेन प्रशंसति ॥१५॥

"हाभ्या मिति । यजमानस्याग्निचयनेनाग्नित्वप्राप्ते र्यजमाना-
ऽग्निः समुच्चणानन्तरम् प्रत्यवरोहेदित्याह यथेति) * ॥ १६ ॥

अवरोहणमन्त्रजपस्यामयमव्यतिरेकयो गुणादोषावाद् 'सर्वे
हेत' इत्यादिना 'योऽय मग्नि' ययनेन संस्कृतः एव सर्वे प्राणाः
प्राणापत्यात्मकत्वात् सर्वेषां प्राणा इत्यर्थः । अतः सोऽध्वर्यु
रवावसरे यदि 'आत्मन' एतां "प्राणदा * इत्येतान् मन्त्ररूपां
प्राणरक्षणं न वदेत् तर्हि एषोऽग्निरस्याध्वर्योः 'प्राणान् वृञ्जीत'
वर्जयेदपगमवेदित्यर्थः । प्राणादेत्यादिमन्त्ररूप परिदाभिधाने
तु तथा न कुर्यात् ।

इत्थं मन्त्ररूपस्योपयोग मभिधायाय मन्त्रं व्याचष्टे —
"प्राणदा इति † । "एतद्वा मेऽसीत्येतदिति । 'मे' मर्दयं एषां
प्राणादीनां नासीत्येतदेवोक्तं भवति न पुनरन्यार्थ मित्यर्थः ।
हे अग्ने त्वम् मे प्राणापानाव्यामानां वर्चसो धनस्य च दातासि ।
अतो ब्रवीमि ते हेतयो ऽस्मादन्यां 'एतपन्तु' 'अस्मभ्यं' तु 'पावकः
शिवश्च भव' ॥ १७ ॥

अग्नेरवरुह्य पश्चात् कर्त्तव्यं प्रयोग माह — "प्रत्येत्येति ।
अथास्मा इति 'अस्मै' यजमानाय 'व्रतं' पयः कृत्स्नं 'वा अर्ध-
व्रतं प्रयच्छति' 'अथ' तदा मेवोपराह्निकाभ्यां 'प्रवर्ग्योपसङ्गां
प्रचर्य' अथ प्रवर्ग्यं मुक्त्वादयति 'यस्मैकामाथेनं प्रहृणति' तस्य
कामस्याप्तेः स्यात् इत्यर्थः ॥ १८ ॥

'प्रवर्ग्यं मुक्त्वादयति' सामान्येन विधानाद्यत्र कश्चित् प्रसक्ता-
वाह, — "तं वा इति । परितः सन्दी जलस्त्रवणं यस्म

* "प्राणदा इत्यवरोहति"—इति का० श्रौ० सू० १८. ३. ८ ।

† वा० सं० १७. १५ ।

परिष्यन्दो, द्वीपः * ननु पृथिव्या मपु वा कस्मान्नोत्साद्यत इत्याह — “ततो वा इति एष प्रवर्ग्य उत्सत्वाच्छोक-विधिष्टो भवति । अतस्तं यदि त्रिणां मुत्सादयेत् तदा तस्य शोकः पृथिवीं प्राप्नोति । अथ यद्यपु, उत्सादयेत् तस्मात् शोकापः प्राप्नोति । तस्मात् तत्र नोत्सादनोयः किन्तु परिष्यन्दे तथा च पृथिवी मपय न हिनस्ति ननु परिष्यन्द उत्सादनेऽपि तत्र तदुभय सम्भवात् कथं तासां हिंसाभावः इति । तत्राह, — “यदहाप्सिति । अपां मध्ये-नुत्सादयो हिनस्ति यद्यद्वीपे पृथिवी मीवोत्सादयति । तथा परिमितः शान्तिहेतु भूनाभिरद्भिर्वक्तयितत्वात् पृथिव्या अपि हिंसानास्तो इत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रवर्ग्योदासनस्य स्थानान्तरं विधत्ते — “अग्नीत्वेति । पूर्वोक्त परिष्यन्दे अनी वा प्रवर्ग्य उत्साद्यते इति विकल्प-विधानं मेतत् । अतएव कात्यायनः — “अग्नी परिष्यन्दे वा इति १ । तत्तस्य प्रवर्ग्यस्य परिष्यन्द एवोदासने कस्यचिदपि बाधाभावादस्याप्यग्नेः परिष्यन्दस्य माह — “इमे वै शोका इति । पृथिव्यादिशोकात्कस्याग्नेः समुद्रवद्वेष्टनात् परिश्रिता-मीवात्मकत्वम् ॥ २० ॥

* “अग्नी इष्टकाचितः स्थलरूपे ० परिष्यन्दे यस्य परितः आपः स्यन्दन्ते परिगच्छति परिष्यन्दो द्वीपः जलमध्यस्थो जलानाच्छादित उच्चप्रदेशः” — इति का० श्रौ० सू० १८. ३. ११ ।

† “उपसदन्ते प्रवर्ग्यात्साहनं यथोक्तं मग्नी परिष्यन्दे वा” — इति का० श्रौ० सू० १८. ३. १० ।

अथाग्नावेवोदासनं प्रशंसति,— “यद्देति । अग्न्यादयो देवादीन्प्रमानत्वेन ‘प्रवर्ग्या’ अतश्च लोकत्रयात्मकादग्नेरग्न्यश्च प्रवर्ग्यासादने अग्न्यादौनेवेनेभ्यो लोकेभ्यो बहिर्षा कुर्यात् । अग्नां तदुदासने तु एषेव लोकेषु अग्न्यादौत्रिहितवान् भवति । अन्नावुत्सादयतीति लोपः आकल्पयेति * वकारस्य लोपः ॥ २१ ॥

अथ पुनस्तत्रैवोदासनं यज्ञस्य शिरः शरीरसन्धानरूपेण प्रशंसति ;— “यद्देवाग्ना उत्सादयतीति ॥ २२ ॥

यदात्त्वग्न्यावुत्सादनं तदोदासने विशेष माह— “स्वयमाह्वस्येति । ‘प्रथमं प्रवर्ग्यं’ स्वयमाह्वसाया ‘संसृष्ट’ मुहासयेत् । एवञ्च स्वयमाह्वसायाः † प्राणरूपत्वात् प्रवर्ग्यात्मकस्य यज्ञस्य शिरसः सञ्चिताग्न्यात्मकस्य यज्ञशरीरस्य प्राणेन सन्धानं करोति । “सन्धातीति । अथैव विवरणं ‘उत्साद्य प्रवर्ग्यं मिति’ । तस्य प्रवर्ग्यस्य यथा येन प्रकारेण प्रवर्ग्यकाण्डोक्तप्रकारेण उत्सादनं मुक्तं तेन प्रकारेण प्रवर्ग्यं मुत्सादयेत् प्रत्येत्स्वाग्निं प्रहरिष्यन्निस्वाद्युक्तासक्तिप्रपञ्चोत्साद्येतिस्त्वन्तस्य प्रयोगः ॥ २३ ॥ १ ॥ २ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

नवमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

* पा० सू० ८. ३. १६ ।

† का० श्रौ० सू० १८. ३. १२ ।

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

प्रत्येत्याग्निं प्रहरिष्यन् * । आहुतीश्च जुहोति
समिधश्चादधात्येतद्वा ऽएनं देवा एष्यन्तं पुरस्ताद्-
न्नेनाप्रीणन्नाहुतिभिश्च समिद्भिश्च तथैवैन मय मेत-
देष्यन्तं पुरस्ताद्नेन प्रीणात्याहुतिभिश्च समिद्भिश्च
स वै पञ्चगृहीतं गृह्णीते तस्योक्तो बन्धुः † ॥ १ ॥

अथ षोडशगृहीतं गृह्णीते । षोडशकलः
प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्मितेनैवैन मेतद्नेन
प्रीणाति यदु वा ऽआत्मसम्मित मन्नं तदवति तन्न
हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न
तदवति समान्यां सुचि गृह्णीते समानो हि स
य मेतत् प्रीणाति त्वैश्वकर्माणाभ्यां जुहोति त्विश्व-
कर्माय मग्निस्त मेवैतत् प्रीणाति तिस्र ऽआहुती-

* 'प्रहरिष्यन्'—इति म, घ ।

† 'बन्धुः'—इति ङ ।

जुहोति त्रिष्टुदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतै-
वैन मेतद्दन्नेन प्रीणाति * ॥ २ ॥

अथ समिध आदधाति । यथा तर्पयित्वा
परिवेविष्याताह तदौदुम्बर्यो भवन्त्युर्वे रस उदुम्बर
ऽज्जैवैन मेतद्दन्नेन प्रीणाति भवन्त्येतद्द्वे व्वन-
स्पतीना मनार्त्तं जीवं यदाद्रं तद्यदेव व्वनस्पती-
ना मनार्त्तं जीवं तेनैन मेतत् प्रीणाति घृते न्युत्ता
भक्षन्त्यानेयं वै घृतं स्वेनैवैन मेतद् भागेन स्वेन
रसेन प्रीणाति सुखां रात्रिं व्वसन्ति तत्र हि
ता रसेन सम्पद्यन्ते तिस्रः समिध आदधाति
त्रिष्टुदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेत-
दन्नेन प्रीणाति ॥ ३ ॥

यद्देवैता आहुतीर्जुहोति । एतद्वा ऽएनं
देवा ऽएष्यन्तं पुरस्तादन्नेन समस्कुर्वन्नेताभिरा-
हुतिभिस्तथैवैन मय मेतदेष्यन्तं पुरस्तादन्नेन संस्करो-

येताभिराहुतिभिः ॥ ४ ॥

स वै पञ्चगृहीतं गृह्णीते । पञ्चधाविहितो
 वा ऽप्ययं शीर्षन् प्राणो मनो वाक् प्राणश्चक्षुः
 श्रोत्रं मेत मेवास्मिन्नेतत् पञ्चधाविहितं शीर्षन्
 प्राणं दधात्यग्निस्तिग्मेन शोचिषिति तिग्मवत्या शिर
 ऽएवास्यैतया संप्रयति तिग्मतायै ॥ ५ ॥

अथ षोडशगृहीतं गृह्णीते । अष्टौ प्राणा
 अष्टावङ्गान्येता मभि सम्पदं समान्यां सुषि
 गृह्णीते समाने ह्येवात्मन्नङ्गानि च प्राणाश्च भवन्ति
 नाना जुहोत्यङ्गेभ्यश्च तत्प्राणेभ्यश्च विधृतिं करोति
 द्वैश्वकर्माभ्यां जुहोति विष्वक्कर्मायु मग्निस्तु
 मेवैतत् संस्करोति तिस्र ऽथाहुतिर्जुहोति विष्टदग्नि-
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदग्नेन
 संस्करोति सप्तदशभिर्ऋग्भिः सप्तदशः प्रजापतिः
 प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन
 मेतत् संस्करोत्येकविंशतिगृहीतेन द्वादश मासाः
 पञ्चऽर्त्तवस्त्रय ऽद्भमे लोका ऽअसावादित्य ऽएकविंश
 ऽएता मभिसम्पदम् ॥ ६ ॥

यदेवैताः समिध ऽप्पादधाति । एतद्वा ऽएनं
 देवाः सर्व्वं कृत्स्नं संस्कृत्याथैन मेतेनान्नेनाप्रीणन्ने-
 ताभिः समिद्धिस्तथैवैन मय मेतत् सर्व्वं कृत्स्नं
 संस्कृत्याथैन मेतेनान्नेन प्रीणात्येताभिः समिद्धि-
 रौदुम्बर्यो भवन्त्यार्द्रा घृते न्युक्ता सर्वां रात्रिं
 व्यसन्ति तस्योक्तो बभ्रुहृदेन मुत्तरां नयेन्द्रेमं
 प्रतरां नय यस्य कुर्मो गृहे हविरिति यथैवः
 यजुस्तथा बभ्रुस्तिष्ठः समिध ऽप्पादधाति विष्टदग्नि-
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदन्नन
 प्रीणाति तिस्र ऽप्पाहुतीर्जुहोति तत् षट् तस्योक्तो
 बभ्रुः ॥ ७ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [२. २.]

प्रवर्ग्योदासमानन्तरं सञ्चिते दृष्टकासमूहे स्थापनायाम्निं
 प्रक्षेतुं तावद्वाहपत्ये चाज्यहोमं समिद्धोमं च विधत्ते—
 “प्रत्वेत्याग्नि मिति । प्रहरिष्वन् प्रक्षेप्यन्नित्यर्षः । विहित-

होम आहवनीयप्रदेशं समिद्धस्याग्नेः * प्रथमाय पुरस्तादग्नेन †
सम्पाद्यत ऽइत्याह एतदा ऽएन मित्यादिना आहुतिभिः
समिद्धिषेत्येतदग्नेत्यस्य विशेषणं आहुति समिद्रूपेणे मेने-
त्यर्थः । आहुतिभिर्जुहोती सामान्येन विधानात् कथं
होमप्रकार इत्यपेक्षया माह - “स वै पञ्च गृह्णीत मिति ।
आज्यं पञ्चगृह्णीते यथा भवति तथा गृह्णीतेत्यर्थः । तस्य
तु “पञ्च वा ऋतव” ‡ इत्यःदिकं ब्राह्मणं प्रागुक्तम् । अनेन
पञ्चगृह्णीतेनाज्येनेकाहुतिः सम्पाद्यते ॥ १ ॥

अथ षोडशगृह्णीत माज्य गृह्णीते, अष्टौ प्राणा अष्टावङ्गा-
नीत्येतेः § षोडशावयवः प्रजापतिः अयं च ह्ययमानोऽग्निः प्रजा-
पत्यात्मकः अतस्तस्य षोडशगृह्णीत मात्ममदृश मनं न भवतीति
तदुचितेनैवान्नेनेनं प्रीणाति । लोके हि यदेवान् मात्मसंहितं
तदेव रञ्जति न च हिनस्ति भूयो हिंसकत्वादल्पस्य स्वप-
र्याप्तत्वेनारजकत्वादिति । अत्र षोडश गृह्णीतं नमं विभज्य द्वे
आहुतौ क्रियते । अतश्चाहुतिभेदेन पृथगेव अहणप्रसक्तावाह,—
“समान्या मिति । समान्या मेकस्या मेव स्रुवि गृह्णीत-

* ‘समिद्ध्याताग्नेः’—इति छ, ‘गमिद्ध्याताग्नेः’—इति ज,

† ‘समिद्ध्याताग्नेः’—इति झ अ ।

‡ ‘पुरस्तादग्नेन’—इति छ झ, अ ।

§ इहैव पुरस्तात् द. ५. १ ।

§ ‘अष्टावङ्गानीत्येते’—इति छ, ‘अष्टावङ्गातीत्येते’—इति अ ।

षोडशगृहीत माज्यं सहैव गृह्णीयादित्यर्थः । आहुतिभेदेऽपि कथं मिकं गृह्यत इत्यत आह— “समानो ह्येति । एतेन षोडशगृहीतेनाज्येन यं प्रीणाति तस्यान्नीरेकत्वादित्यर्थः । प्रकृतेन षोडशगृहीतेनाज्येन साध्यो ह्ये होमाविति दर्शयत् मन्त्रे वर्णिता देवता सम्बन्धस्याग्नये प्रकृतहोमे समवेतार्थं आह— “वैश्वकर्मणाभ्या मिति । वैश्वकर्मणशब्द उद्भिदादि शब्दवत्कर्मनामधेयं अग्नेः प्राजापत्यात्मकत्वेन विश्व विषय-कर्मवत्त्वादिविश्वकर्मत्वम् । पञ्चगृहोतेनाज्येनैकाहुतिः षोडश गृहीतेन द्वे आहुति इति । तिस्र आहुतयः सम्पद्यन्ते सा च त्रित्वसङ्ख्यासकलस्य अग्नेस्तृप्ति हेतु न भवतीत्याह,— “तिस्र आहुतौ जुहोति त्रिवृदग्नि रिति । आहुतीश्च जुहोति समिधश्च दधातीति होमद्वय मपि सामान्येन विहितम् । तत्रान्याहुतीनां होमप्रकारोऽभिहितः ॥ २ ॥

अथ समिधां होमि विशेष मभिधातु आह— “अथ समिध इति । यथा तर्पयत्वेति लोके जनः किञ्चित् पुरुष मन्येन तर्पयित्वा पश्चादन्नविशेषाणां परिवेषणं करोति तद्वद्देवाय मपि समिधोमो भवति । आन्याहुतिलक्षणस्यान्नस्य प्रथमं सम्पादितत्वादित्यर्थः । परिवेषिण्यादित्यविषे र्यङ्लुगन्तस्य लिङ्गि रूपं ताश्च समिध औदुम्बर्यो भवेयु रित्याह— “औदुम्बर्य इति । उदुम्बरस्य उपपरसामकत्वात्तेनैवैनं प्रीणातीत्याह— “जर्वा इति । एतद्वै वनस्पतीना मित्यादिकस्याय मर्थः । आर्द्राः आर्द्रत्वं गुण इति यत् एतद्वनस्पतीना मार्द्रं मनुप्रकृतं जीवं

आर्द्रतराणा मुपजीवत्वात् ; अत आर्द्राभिः समिद्धि होमे तेन
 जीवेनैतं प्रोणाति । अग्नी ह्यमानस्य घृतस्य समिदादिवद्
 भस्मी भावात् । केवलं ज्वालारूपेण परिणामादाने अपैधं
 अतएव श्रूयते । एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यदाज्य मिति (ताः
 समिधः पूर्वद्युराची सर्वस्या मिव घृते वसन्ति । सर्वा रात्रितीत्य-
 न्यसां योगे द्वितीया तत्तथा निवासे हि) * ताः रसेन सम्पन्ना
 भवन्तीति । अत स्तथाविधाभि समिद्धि होमि स्वर्कायेन रसरूपेण
 तापनेन मग्नि प्रोणितवान् भवतीति । “समिध आदधातीति ।
 सामान्येन बहुचविधाना तद्विशेषे पर्यवसान माह — “तिस्र
 इति । ताश्च त्रित्वसङ्ख्यां सकलान्निप्रोतिहेतुत्वेन प्रशंसति ॥ ३ ॥

“यद्वैवेता इति । समस्कुर्वन्निति आहवनीयरूपतानुगुण-
 संस्कार विशिष्ट मकुर्वन्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमाहुत्यर्थं पञ्चवार ग्रहणं अपेः शीर्षस्य प्राण-
 पञ्चको नमरूपेण प्रशंसति — “स वै पञ्च गृह्णीत मिति । या-
 गिति वागिति मुखं प्राण इति घ्राणं चक्षुर्दयं च ही प्राणौ एते
 मनःसहितावागादयः शिरसि पञ्चविहितः प्राणः अतश्च पञ्चवार-
 ग्रहणेनास्मिन्नग्नेः शिरसि मनःप्रभृति प्राणपञ्चकं निदधाति ।
 होममन्त्रस्य तिग्मपदसम्बन्धं प्रशंसति — अग्नेस्तिग्मेनेतिग्म-
 शब्दस्य तैष्णवाचकत्वात् तद्वत्या ऋचा होमेन तैष्णवसिद्ध-
 येऽग्नेः शिरस्तीक्ष्णं करोति पश्यन्तीति शो तनूकरणे अस्मा-
 द्भट्टि एतिर्नुतः श्यतीत्योकारलोपः । अथ तत्राहुति द्वयार्थं

षोडशवारयज्ञं प्रशंसति, (प्रसिद्धान्यष्टावक्रानि । एतासां सम्पदमभिलक्ष्य षोडशगृहीतस्य यज्ञं अग्निवनी प्राणाङ्गा-
 एकं सम्पादनार्थं षोडशवारं गृहीत इत्यर्थः । एकस्मिन्नेव शरीरे अङ्गानां प्राणानाञ्चावस्थानात् षोडशगृहीत मेषु विगृहीते *) होमस्तु पृथगेव करोति । एवं च अङ्गानां प्राणानाञ्च विधृतिं विभेदेन धारण ममङ्गीर्णतां करोति । तयोर्होमयोर्वैश्वकर्मणस्त्वाह्विकर्मशब्दाभिधेय मग्निं संस्करोति । आहुतीनाञ्च त्रित्वात्रितोनेः सकलस्यापि संस्कारं सम्पादयति । अत्रानिस्त्रिग्मेनेत्यनया ऋचा पञ्चगृहीतं ह्ययते य इमा त्रिखेत्यादिभिरष्टाभिर्ऋग्भिः षोडश गृहीतार्थं ह्ययते अथशिष्टं चक्षुषः पितेत्यादिभिरष्टाभिर्ऋग्भिः ह्ययते । अतएव कात्यायनः ; — “पञ्च गृहीतं जुहोत्यनिस्त्रिग्मेनेत्यृचा षोडशगृहीतार्थं मनुवाकशेषेण” “चक्षुषः पितेत्य परमनु वाकेना”— इति † । एवं सर्वाः सम्भूय सप्तदश भवन्ति ता एतान् सङ्ख्या कृत्स्नानिसंस्काराहेतुत्वेन प्रशंसति, — “सप्तदशभि ऋग्भिरिति । प्रजापतेः सप्तदशत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्,—“आश्रावयेति चतुरक्षर मस्तु श्रीषडिति चतुरक्षरं यजेते इक्षरं ये यजामह इति पञ्चाक्षरं इक्षरो वषट्कार एष वै सप्तदशः प्रजापतिः”—इति ‡ ।

* बन्धुगीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

† “पितेत्यादिभिर्ह्ययते”—इति ज ।

‡ का० श्रौ० सू० १८. ३. १२-१४ ।

§ तै० ब्रा १. ६. ११ ।

अथवा अष्टौ प्राणा अष्टावक्त्रानि स्वयं मेक इति सप्त-
दशात्मकः मिलितां अहणसङ्ख्यां प्रशंसति,— “एकविंशति
गृहीतेनेति । “द्वादश मासाः पञ्चऽर्त्तव अयं इमे लोका असा-
वादित्य एकविंश” एता मभिलक्ष्य एकविंशति गृहीतेन
ह्ययते । एतस्याग्नेर्यथोक्तेकविंशात्मकत्व सम्पादनापैकविंशति
गृहीतेन होम इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ समिधां होम प्रकारान्तरेण प्रशंसति,— “यद्देवैता
इति । ऊर्ध्वं यथा तर्पयित्वा परिवेष्यादिति आज्याहुतिलक्षणे-
नाग्नेनं तर्पितस्याग्नेः समिद्धोमः परिवेषणवद्भवतीति प्रशंसितः ।
इदानीन्तु एकविंशति गृहीत होमेन एकविंशत्यात्मकत्व
सम्पादनात् काण्डान्न संस्कृतस्याग्नेरन्नरूपेण प्रशस्यत इति न
पानरुत्तयम् । सर्वमित्यस्यैवार्थं कथनं कर्त्तव्यमिति “अौदुम्बर्यो
भवन्त्यार्द्रा घृते न्युक्ता सर्वा रात्रिं वसन्ति”—इति यदस्ति तस्य
ऊर्ध्वं उदुम्बूर इत्यादिरूपं ब्राह्मण मनन्तरं मेवीत्तं तदेवानु-
सन्धेयेत्यर्थः । प्रकृतानां समिदाहुतीनां मन्त्रा निगदव्याख्याता
इत्याह—“उदेन मुत्तरान्नयेति * । “उदेन मुत्तरान्नयेत्यादिकः
प्रथमो मन्त्रः, “इन्द्रेमं प्रतरान्नयेत्यादिको द्वितीयः † “यस्य
कुर्मो गृहे हविरित्यादिक सृतीयः ‡, एतेषां यथा मन्त्रस्य
तथैव ब्राह्मणं स्पष्टार्था इत्यर्थः । “तिस्रः समिध” इत्येत-

* वा० सं० १७. ५० ।

† वा० सं० १७. ५१ ।

‡ वा० सं० १७. ५२ ।

दुक्तार्थं आज्यममिदाहुति सङ्घां भूयः स्तौति— “तिस्र
 अःहुति रिति । प्रकृतत्वात्तिस्रः समिध आदधातीति सम्बन्ध्यते,
 एवं षट् सङ्घां सम्पद्यन्ते तद्ब्राह्मणं—“षड् वा ऋतव” इत्यादि-
 रूपं प्रागुक्त मित्त्वर्थः * ॥ ७ ॥ ३ [२. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपथब्राह्मणभाष्ये

नवमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति नवमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

अथातः सम्प्रेष्यति । उद्यच्छेधमुपयच्छोपय-
मनीरग्नये प्रक्रियमाणायानुब्रूह्यग्नीदेकरूपययानूदेहिः
ब्रह्मन्नप्रतिरथं जपेति ॥ १ ॥

एतद्देवै देवानुपमैष्यतः । एतं यज्ञं तप्तस्य-
मानान् दक्षिणतो ऽसुरा रक्षांसि नाष्टा अजि-
घाप्तसन्न यक्ष्यध्वे न यज्ञं तप्तस्यध्व ऽदृति ॥ २ ॥

ते देवा इन्द्र मब्रुवन् । त्वं वै नः श्रेष्ठो
बलिष्ठो वीर्यवत्तमो ऽसि त्वु मिमाजि रक्षांसि
प्रतियतस्वेति तस्य वै मे ब्रह्म द्वितीय मस्त्विति

• 'रूपययानूदेहि'—इति क, ख, उ ।

तथेति तस्मै वै बृहस्पतिं द्वितीयं मकुर्वन् ब्रह्म
 वै बृहस्पतिस्त इन्द्रेण चैव बृहस्पतिना च दक्षि-
 णतो ऽसुरान् रक्षांसि नाष्टा अपहत्याभये ऽनाष्ट
 ऽएतं यज्ञं मतन्वत ॥ ३ ॥

तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा अपकुर्वन्निदं
 नु तानि रक्षांसि देवैरेवापहतानि यत्स्वेतत्
 करोति यद्देवा ऽपकुर्वन्स्तत्करवाणीत्यथो ऽइन्द्रेण
 चैवैतद् बृहस्पतिना च दक्षिणतो ऽसुरान् रक्षां-
 सि नाष्टा ऽअपहत्याभये ऽनाष्ट ऽएतं यज्ञं तनुते
 ॥ ४ ॥

स यः स इन्द्रः । एष सो ऽप्रतिरथो ऽथ यः
 स बृहस्पतिरेष स ब्रह्मा तद्यद्ब्रह्मा प्रतिरथं अप-
 तीन्द्रेण चैवैतद् बृहस्पतिना च दक्षिणतो ऽसुरान्
 रक्षांसि नाष्टा अपहत्याभये ऽनाष्ट ऽएतं यज्ञं तनुते ॥
 तस्माद् ब्रह्माप्रतिरथं अपति * ॥ ५ ॥

आशुः शिशानो व्युषभी न भीम इति† ।
 ऐन्द्रो, ऽभिष्पा द्वादश भवन्ति द्वादश मासाः

संश्रुत्सुरः संश्रुत्सुरो ऽन्निर्यावानन्निर्यावित्यस्य मावा
 तावतैवैतद्दक्षिणतो ऽसुरान् रक्षांसि नाष्टा अप-
 हन्ति त्रिष्टुम्भिर्ब्रह्मो * वै त्रिष्टुम्भ्यश्चैवैतद्दक्षिणतो
 ऽसुरान् रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति ता द्वाविंशति-
 गायत्र्यः सम्पद्यन्ते तदाग्नेय्यो भवन्त्यन्निकर्म्म हि †
 ॥ ६ ॥

अथैन मुद्यच्छति ‡ । उदु त्वा त्विष्वे देवा अग्ने
 भरन्तु चित्तिभिरिति तस्योक्तो बन्धुः § ॥ ७ ॥

अथाभिप्रयन्ति । पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञु मवन्तु
 देवीरिति देवाद्यासुरासोभये प्राजापत्या दिक्ष्व-
 स्पर्हन्त ते देवा असुराणां दिशो ऽष्टस्रत तथे-
 वैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य दिशो वृङ्क्ते
 दैवीरिति तदेना दैवीः कुरुते ॥ यज्ञु मवन्तु दैवी-

* 'त्रिष्टुम्भिर्ब्रह्मो' -- इति क ख ।

† 'हि' -- इति क, 'हि' -- इति ग, घ ।

‡ 'मुद्यच्छति' -- इति क ।

§ 'बन्धुः' -- इति ङ ।

॥ 'कुरुते' -- इति ग ।

रि॒ति॒ य॒ज्ञ॒ मि॒म॒ सं॒व॒न्तु॒ दे॒वी॒रि॒त्ये॒त॒द॒पा॒म॒तिं॒ दु॒र्म्मा॒तिं
 बा॒ध॒मा॒ना इ॒त्य॒श॒ना॒या वा ऽ॒प्र॒म॒ति॒र॒श॒ना॒या म॒प॒-
 बा॒ध॒मा॒ना इ॒त्ये॒त॒द्रा॒य॒स्यो॒षे य॒ज्ञ॒प॒ति॒ मा॒भ॒ज॒न्ती॒-
 रि॒ति॒ र॒य्यां च॒ पो॒षे च॒ य॒ज्ञ॒प॒ति॒ मा॒भ॒ज॒न्ती॒रि॒त्ये॒-
 त॒द्रा॒य॒स्यो॒षे ऽ॒धि॒ य॒ज्ञो ऽ॒स्य॒ादि॒ति॒ र॒य्यां च॒ पो॒षे
 चा॒धि॒ य॒ज्ञो ऽ॒स्य॒ादि॒त्ये॒तत् * ॥ ८ ॥

स॒मि॒हे ऽ॒ग्ना॒व॒धि॒ मा॒म॒हान॒ इ॒ति॒ । य॒ज॒-
 मा॒नो वै॒ मा॒म॒हान॒ उ॒क्थ॒प॒त्र इ॒त्यु॒क्थ॒ानि॒ ह्ये॒तस्य
 प॒त्रा॒णी॒ष्य इ॒ति॒ य॒ज्ञि॒यं इ॒त्ये॒तद्भू॒भीत॒ इ॒ति॒ धा॒रित
 इ॒त्ये॒तत्त॒प्तं घ॒र्म्मं॒ परि॒गृ॒ह्या॒य॒ज॒न्ते॒ति॒ त॒प्तुं॒ ह्ये॒तं
 घ॒र्म्मं॒ परि॒गृ॒ह्या॒य॒ज॒न्तो॒र्जा॒ यद्य॒ज्ञ म॒य॒ज॒न्त दे॒वा
 इ॒त्यु॒र्जा॒ ह्ये॒तं य॒ज्ञ म॒य॒ज॒न्त दे॒वाः † ॥ ९ ॥

दै॒व्या॒य ध॒र्वे जो॒ष्टु ऽइ॒ति॒ । दै॒वो ह्ये॒ष ध॒र्त्ता
 जो॒षयि॒त्त॒मो दे॒व॒श्रीः श्री॒मनाः॒ श॒त॒प॒या इ॒ति॒
 दे॒व॒श्री॒ह्ये॒ष श्री॒मनाः॒ श॒त॒प॒याः परि॒गृ॒ह्या॒ दे॒वा य॒ज्ञ
 मा॒य॒न्नि॒ति॒ परि॒गृ॒ह्या॒ ह्ये॒तं दे॒वा य॒ज्ञ मा॒य॒न् दे॒वा

* 'ऽस्यादित्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'देवाः'—इति ग, घ ।

दे॒वेभ्यो ऽअ॒व्य॒न्तो अ॒स्य॒रित्य॒ध्वरो वै य॒ज्ञो दे॒वा
दे॒वेभ्यो य॒ज्ञिय॒न्तो ऽस्य॒रित्ये॒तत् ॥ १० ॥

व्वी॒तु॒ ह॒विः श॒मि॒तु॒ श॒मि॒ता य॒ज॒ध्या ऽइ॒ति ।
इ॒ष्टु॒ खि॒ष्ट मि॒त्ये॒तत्तु॒री॒यो य॒ज्ञो य॒त्र इ॒व्य॒मे॒तीत्य॒-
ध्व॒युः पु॒र॒स्ताद्य॒जूषि॒ ज॒प॒ति हो॒ता प॒श्चा॒द्वो
ऽन्वा॒ह ब्र॒ह्मा द॒क्षि॒णतो ऽप्र॒ति॒रथं ज॒प॒त्येष॒ ऽए॒व
तु॒री॒यो य॒ज्ञस्त॒तो व्वा॒का आ॒शि॒षो नो जु॒षन्ता
मि॒ति त॒तो नो व्वा॒काश्चा॒शि॒षश्च जु॒षन्ता मि॒त्ये॒-
तत् * ॥ ११ ॥

सूर्य॑रश्मिर्ह॑रि॒केशः पु॒र॒स्तात् । स॒वि॒ता ज्योति॒-
रु॒द॒यां† अ॒ज॒स्र मि॒त्यसौ वा ऽआ॒दि॒त्यं पु॒षोऽग्निः
सु ऽए॒ष सूर्य॑रश्मिर्ह॑रि॒केशः पु॒र॒स्तात् स॒वि॒तैत॒-
ज्योति॑रु॒द॒याश्च॒त्य॒ज॒स्रं त॒स्य पु॒षा प्र॒स॒वे या॒ति खि॒दा-
नि॒ति प॒शु॒वो वै पु॒षा त॒ ऽए॒तस्य॒ प्र॒स॒वे प्रे॒रते
सम्प॑श्यन् वि॒श॒वा भु॒व॒ना॒नि गो॒पा इ॒त्येष॒ वा ऽइ॒दु॒

* 'मित्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'ज्योतिरुदयांश्'—इति क, 'ज्योतिरुदयांश्'—ति ख.

'ज्योतिरुदयांश्'—इति ङ ।

सर्वं सम्पश्यत्येष ऽउ ऽएवास्य सर्वस्य भुवनस्य
गोप्ता * ॥ १२ ॥

तद्या अमुष्मादादित्याद्वर्वाच्यः पञ्च दिशः । ता
ऽएतद्देवा ऽअसुराणा महञ्जतायो ता ऽएवैतत् समा-
रोहंस्ता ऽउ ऽएवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यश्च
वृङ्क्तेऽथो ता ऽएवैतत् समारोहत्यथो ऽएतद्वा ऽए-
ताभिर्देवा चातः सम्प्राप्तुवंस्तथैवाभिरय मेतद्दातः
सम्प्राप्नोति † ॥ १३ ॥

अथाश्मानं पृश्नि मुपदधाति । असौ वा ऽआ-
दित्यो ऽश्मा पृश्निरमु मेवैतदादित्य मुपदधाति
पृश्निर्भवति रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि त मन्त-
रेणाहवनीयं च गार्हपत्यं चोपदधात्ययं वै लोको
गार्हपत्यो द्यौराहवनीय ऽएतं तदिमौ लोका-
वन्तरेण दधाति ‡ तस्मादेष ऽद्वमौ लोकावन्तरेण
तपति ॥ १४ ॥

* 'गोप्ता'—इति ग, 'गोप्ता'—इति घ ।

† 'सम्प्राप्नोति'—इति क ।

‡ 'दधाति'—इति क ।

आग्नीध्रवेलायाम् । अन्तरिक्षं वा ऽप्याग्नीध्र
मेतं तदन्तरिक्षे दधाति तस्माद्देवो ऽन्तरिक्षाय-
तनो व्यध्वे व्यध्वे ह्येष इतः * ॥ १५ ॥

स एष प्राणः । प्राण मेवैतदात्मन् धत्ते तदे-
तदायुरायुरेवैतदात्मन् धत्ते तदेतदन्नमायुर्द्येतदन्नमु
वा ऽप्रायुरश्मा भवति स्थिरो वा ऽपश्मा स्थिरं
तदायुः कुरुते पृथ्विर्भवति पृथ्वीव ह्यन्नम् ॥ १६ ॥

स उपदधाति । विमान एष दिवो मध्य
ऽप्रास्त ऽद्विति विमानो ह्येष दिवो मध्य ऽप्रास्त
ऽप्रापप्रिवान्नोदसौ अन्तरिक्ष मित्युद्यन् वा ऽएष
ऽद्वमांश्लोकानांपूरयति स विप्रवाचीरभिचष्टे घृताची
रिति स्रुचश्चैतद्देदीश्वाहान्तरा पूर्वमपरं च केतु मित्य-
न्तरेमच्च लोक ममु च्चेत्येतदथो यच्चेद् मेतर्हि चीयते
यच्चादः पूर्वं मंचीयतेति ॥ १७ ॥

उद्या समुद्रो ऽचरुणः सुपर्श ऽद्विति । उद्या
ह्येष समुद्रो ऽरुणः सुपर्शः पूर्वस्य योनिं पितुरा-
विवेशेति पूर्वस्य ह्येष एतं योनिं पितुस्त्रविशति

मध्ये दिवो निहितः पृश्निरग्नेति मध्ये ह्येष दिवो
निहितः पृश्निरग्ना विचक्रमे रजसस्यात्यन्ताविति
विक्रममाणो वा ऽएष ऽएषां लोकाना मन्ता-
न्याति ॥ १८ ॥

द्वाभ्या मुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानो
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदुप-
दधाति त्रिष्टुभ्यां* त्रैष्टुभ्यां ह्येष न सादयत्यसन्नो ह्येष
न सूददोहसाधिषदति प्राणो वै सूददोहाः ऽप्राण
ऽएष किं प्राणे प्राणं दध्यामिति तं निधाय यथा न
नश्येत् ॥ १९ ॥

अथोपायन्ति† । इन्द्रं विश्वा ऽअवीवृधन्निति
तस्योक्तो बभ्रुर्देवहूर्यञ्च आ च व्वचत्सुमहूर्यञ्च ऽआ च
व्वचदिति देवहूश्चैव यज्ञः सुमहूश्च यज्ञदग्निर्देवा
देवांश्च॥ ऽआ च व्वचदिति यज्ञश्चैवाग्निर्देवा देवाना
च बह्वित्येतत् ॥ २० ॥

* त्रिष्टुभ्यां—इति क, ख, उ ।

† 'अथोपायन्ति'—इति क, ख, उ ।

‡ 'बह्वित्येतत्'—इति ग, घ ।

अजास्य मा प्रसवः । उद्गामेषोदयभीत् अधा
सपत्नानिन्द्रो मे निघामेषाधरं ॥ ऽचकरिति
यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥ २१ ॥

उद्गामं च निघामं च । ब्रह्म देवा षवी-
वधन् अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषचीमान् व्यस्यता
मिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥ २२ ॥

तद्या अमुष्मादादित्यादृष्टासितस्त्री दिशः ।
ता एतद्देशा असुराणा महञ्जताथो ता एवैतत्
समारोहंस्ता उ ऽएवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य
वृङ्क्तोऽथो ता एवैतत् समारोहत्यथो ऽएतद्वा ऽएता-
भिर्द्देशा आतः सम्प्राप्नुवंस्तथैवाभिरय मेतदातः
सम्प्राप्नोति * ॥ २३ ॥

अथाग्निमारोहन्ति । क्रमध्वमग्निना नाक
मिति स्वर्गो वै लोको नाकः क्रमध्वमग्नेनाग्नि-
नेतुं स्वर्गं लोकमित्येतदुख्यं हस्तेषु विभ्रत

इत्युद्युत् स्येत् ऽएतत् इस्तेषु विभ्रति दिवस्पृष्ठत्
 स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्व मिति दिवस्पृष्ठत्
 स्वर्गं लोकं गत्वा मिश्रा देवेभिराध्व मिरयेतत्* ॥

॥ २४ ॥

प्राची मनु प्रदिशं प्रेहि विधानिति । प्राची
 वै दिग्गनेः स्वा मनु प्रदिशं प्रेहि विधानिरयेतदग्ने
 रग्ने पुरो ऽपग्निर्भवेहेत्यस्य त्व मग्नेरग्ने पुरो ऽग्निः
 भवेहेत्येतदिश्वा प्राशा दीद्यानो विभाहीति सर्वा
 प्राशा दीप्यमानो विभाहीत्येतदूर्जं श्री धेहि
 हिपदे चतुष्पद ऽइत्याशिष माशास्ते ॥ २५ ॥

पृथिव्या ऽपहम्† । उदन्तरिष मारुह मन्तरिष्वा-
 द्विव मारुह मिति गार्हपत्याद्याग्नीध्रीय मागच्छ-
 म्थाग्नीध्रियादाहवनीयं दिवो नाकस्य पृष्ठारस्वर्ज्योति-

* 'मित्तेतत्'—इति म, घ ।

† 'पुरो अपि'—इति क, 'पुरोमि'—इति ख, घ ।

‡ 'पृथिव्याहम्'—इति क, 'पृथिव्या ऽपहम्'—इति ख,

'पृथिव्या अपहम्'—इति ग ।

रगामह मिति दिवो नाकस्य पृष्ठास्वर्गं लोक-
मगामह मित्थेतत् * ॥ २६ ॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते । आ याऽ रोहन्ति रोहसी
ऽइति न हैव ते ऽपेक्षन्ते ये स्वर्गं लोकं यन्ति
यज्ञं ये विष्वतोधारऽ सुविदाऽसो वित्तेनिर
ऽइत्येष एव यज्ञो विष्वतोधार एत ऽउ ऽएव सु-
विदाऽसो य ऽएतं वितन्वते † ॥ २७ ॥

अन्ते प्रेहि प्रथमो देवयता मिति । इम
मेतदग्नि माह त्व मेषां प्रेहि प्रथमो देवयता मिति
अक्षुर्हेवाना मुत मर्त्याना मित्युभयेषाऽ हैतहेव-
मनुष्याणां अक्षुरियक्षमाणा भृगुभिः सजोषा इति
यजमाना भृगुभिः सजोषा इत्येतस्वर्यन्तु यजमानाः
स्वस्त्यीति स्वर्गं लोकं यन्तु यजमानाः स्वस्त्येतत् ‡ ॥
॥ २८ ॥

तद्या अमुष्मिंल्लोके पञ्च दिशः । ता एतद्देवा

* 'मित्थेतत्'—इति ग, 'मित्थेतत्'—इति घ ।

† 'वितन्वते'—इति ग, 'वितन्वते'—इति घ ।

‡ 'स्वस्त्येतत्'—इति ग, घ ।

ऽअसुराणां महञ्जतायो ता एवैतत् समारोहंस्ता उ
 ऽएवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य ऋङ्क्ते ऽयो ता
 एवैतत् समारोहत्यथो ऽएतद्वा ऽएताभिर्हेवा चातः
 सम्प्राप्नुवंस्तथैवाभिरय मेतदातः सम्प्राप्नोति* ॥ २६ ॥

अथैन मभिजुहोति । एतद्वा ऽएनं देवा ईयि-
 वाऽस मुपरिष्ठादन्नेनाप्रीणन्नेतयाहुत्या तथैवैन मय
 मेतदीयिवाऽस मुपरिष्ठादन्नेन प्रीणात्येतयाहुत्या
 कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा रात्रिर्वै कृष्णा शुक्ल-
 वत्सा तथा असावादित्यो वरसः स्वेनैवैन मेतद्
 भागेन स्वेन रसेन प्रीणात्स्वपरि धार्यमाण उपरि
 धार्यमाण उपरि हि स य मेतत् प्रीणाति दीहनेन
 हि पयः प्रदीयते ॥ ३० ॥

यद्देवैन मभिजुहोति । शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः
 प्राणः पयः शीर्षंस्तत् प्राणं दधाति यथा स्वय-
 मात्स्ना मभिप्रक्षरेदेव मभिजुहुयात् प्राणः स्वय-
 मात्स्ना रस एष शिरश्च तत् प्राणश्च रसेन सज्जनीति

सन्द्धाति नक्तोषासा समनसा विरुपे ऽदृति तस्योक्तो
बन्धुः ॥ ३१ ॥

अग्ने सहस्राक्षेति । हिरण्यशकलैर्वा ऽएष
सहस्राक्षः शत मूर्धन्निति यद्ददुः शतशीर्षा रुद्रो
ऽसृज्यत शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना इति शतं
हैव तस्य प्राणाः सहस्रं व्याना यः शतशीर्षा त्वं
साहस्रस्य राय ईशिषऽ इति त्वं सर्वस्यै रय्या
ऽईशिष ऽदृत्येतत्तस्मै ते विधेम व्वाजाय स्वाहेत्येष
वै व्वाजस्त मेतत् प्रीणाति ॥ ३२ ॥

द्वाभ्या मभिजुहोति । द्विपाद्यजमानो यज-
मानो ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन
मेतदभिजुहोति * ॥ ३३ ॥

अथैनं निदधाति । सुपर्णाऽसि गरुत्मानित्ये-
तद्वा ऽएनं मदो विक्कत्या सुपर्णं 'गरुत्मन्तं' विक्क-
रोति तं सुपर्णं गरुत्मन्तं चिनोति तं सुपर्णं
गरुत्मन्तं कृत्वान्ततो निदधाति पृष्ठे पृथिव्याः

सीद भासान्तरिष मापृष ज्योतिषा दिव मुत्तमान
तेजसा दिश उहृहेत्येवृ श्ये एतत् सर्वं करोति॥

॥ ३४ ॥

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादिति । आजु-
ह्वानो नः सुप्रतीकः पुरस्तादित्येतदग्ने त्वं योनि
मासीद साधयेत्येष वा ऽपस्य स्वी योनिस्त
साध्वासीदेत्येतदस्मिन्सधस्ये ऽपध्युत्तरस्मिन्निति
द्वौर्वा ऽउत्तरं सधस्यं द्विष्वे देवा यजमानश्च
सीदतेति तद्विष्वैर्देवैः सह यजमानं सादयति
हाभ्यां निदधाति तस्योक्तो बभ्रुर्व्वषट्कारेण तस्यो-
परि बभ्रुः ॥ ३५ ॥

अथास्मिन्समिध आदधाति । एतद्वा ऽएनं
देवा इयिवांसुस मुपरिष्ठादग्नेनाप्रीयन्समिद्धिसाहु-
तिभिश्च तथैवेन मय मेतदीयिशां समुपरिष्ठादग्नेन
प्रीणाति समिद्धिसाहुतिभिश्च † ॥ ३६ ॥

• 'करोति'—इति क ।

† 'साहुतिभिश्च'—इति क, व

स वै शमीमयीं प्रथमा मादधाति । एतद्वा
 ऽएष एतस्या माहुत्याः हुतायां प्रादीप्यतोदञ्चलत्
 तस्माद्देवा षविभयुर्यद्दे नो ऽयं न हि ऽस्यादिति त
 ऽएताः शमी मपश्यंस्तथैव मशमयंस्तद्यदेतः शम्या-
 शमयंस्तस्माच्छमी तथैवैव मय मेतच्छम्या शमयति
 शान्त्या ऽएव न अगध्ये ॥ ३७ ॥

ताः सवितुर्ध्वरेण्यस्य । चित्रा माहं बृषे सुमतिं
 ध्विप्रवजन्याम् या मस्य कण्वो ऽपदुहत् प्रपीनाः
 सहस्रधारां पयसा मही गा मिति कण्वां हेनां
 ददर्श सा हासौ सहस्रधारा सुर्ध्वान् कामान्
 दुदुहे तथैवैतद्यजमानाव सहस्रधारा सुर्ध्वान् का-
 मान् दुदुहे * ॥ ३८ ॥

अथ वैकवृती मादधाति । तस्या उक्तो बन्धु-
 ध्विधेम ते परमे जन्मन्नम ऽदृति दीर्घा ऽपस्य
 परमं जन्म ध्विधेम स्तोमैरवरं सधस्य इत्यन्तरिर्ध्वं
 ब्वा ऽचवरः सधस्यं यस्माद्योनेरुदागिया यज त

मित्येष वा ऽचस्र स्वी योनिस्तं यत्र ऽदृत्येतत्प्र #
 त्वे हवींषि जुहुरे समिध ऽदृति यदा वा ऽएष
 समिध्यते ऽथैतस्मिन् हवींषि प्रजुहति ॥ ३६ ॥

अथौदुम्बरौ मादधाति । जग्वे रस उदुम्बर
 जज्जैवैन मेतद्रसेन प्रीणाति कर्माकवती भवति
 पशवो वै कस्युकाः पशुभिरैवैन मेतदन्नेन प्रीणाति
 यदि कर्माकवती न ख्विन्द्रेहधिद्रप्सु मुपहत्यादध्या-
 सद्यहधिद्रप्सु उपतिष्ठते तदेव पशुरूपं प्रेक्षो ऽचग्ने
 दीदिहि परो न दृति ख्विराजादधात्यन्नं ख्विरा-
 उन्नैवैन मेतत् प्रीणाति तिघ्नः समिध आदधाति
 ख्विदग्निर्वावानग्निर्वावित्यस्य मात्रा तावतैवैन मेत-
 दन्नेन प्रीणाति † ॥ ४० ॥

अथाहुतीर्जुहोति । अथा परिशिष्यानुपाययेत्
 ता दृक्तत् सुवेण पूर्व्वं स्रचोत्तरा मग्ने त मद्याप्रवं न
 स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिमृशम् ऋध्यामा त

• 'ऽदृत्येतत्प्र'—इति ग . घ

† प्रीणाति - इति क ।

ऽचोहैरिति यस्ते हृदिस्पृकस्तोमस्तं त ऽऋध्यास-
मित्येतत् पङ्क्त्या जुहोति पञ्चपदा पङ्क्तिः पञ्च-
चित्तिको ऽग्निः पञ्च ऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो
ऽन्नियान्नान्नियारिवत्यस्य माता तावतैवैन मेतदग्नेन
प्रीणाति * ॥ ४१ ॥

अथ वैश्वकर्माणी जुहोति । विष्वक्कर्माय
मग्निस्त मेवेतत् प्रीणाति चित्तं जुहोमि मनसा
घृतेनेति चित्त मेषां जुहोमि मनसा च घृतेन
चेत्येतदाथा देवा इहागमन्निति यथा देवा इहा-
गच्छानित्येतद्दीतिहोत्रा ऋतावृध ऽद्विति मत्यवृध
ऽद्वत्येतत्पत्ये विष्वक्स्य भूमनो जुहोमि विष्वक्-
कर्माणा ऽद्विति योऽस्य सर्वस्य भूतस्य पतिस्तस्मै
जुहोमि विष्वक्कर्माणा ऽद्वत्येतद्विष्वाहादाभ्यः हवि-
रिति सर्वदेवाक्षितः हविरित्येतत् † ॥ ४२ ॥

* 'प्रीणाति'- इति ख ।

† 'हविरित्येतत्'—इति ग, 'हविरित्येतत्' इति घ

अथ पू॒र्णाहु॒तिं जु॒होति । सर्व्वं मे॒तदात् पू॒र्णं
सर्व्वं॒ यैवे॒न मे॒तत् प्री॒णाति ॥ ४३ ॥

सप्त॒ ते ऽ॒ग्नि॒ म॒मिध॒ इति॑ । प्रा॒णा वै स॒मिधः
प्रा॒णा ह्ये॒तं स॒मिध॒ते सप्त॒ जिह्वा ऽइति॑ या॒न-
सू॒क्त्य॒प्त॒ पुरु॒षाने॒कं पु॒रुष॒ मकु॒र्व्वं॒स्तेषा॒ मे॒तदा॒ह
सप्त॒ ऽ॒क्त्य॒य इति॑ सप्त॒ हि त॒ ऽ॒क्त्य॒य आ॒सन्म॒प्त
धाम॒ प्रिया॒णीति॑ कु॒न्दा॒स्त्रे॒तदा॒ह कु॒न्दा॒सि वा
ऽ॒चक्ष॒ सप्त॒ धाम॒ प्रिया॒णि सप्त॒ हो॒वाः सप्त॒धा
त्वा य॒जन्ती॑ति॒ सप्त॒ ह्ये॒तं हो॒वाः सप्त॒धा य॒जन्ति
सप्त॒ योनी॑रिति॒ चिती॑रे॒तदा॒हापृ॒णस्त्रे॒त्या* प्र॒जाय॒स्वे-
त्ये॒तद्धृ॒तेने॒ति रे॒तो वै घृ॒तं रे॒त ऽए॒वैत॒देषु॑ लो॒केषु॑
दधा॒त स्वा॒हेति॑ य॒ज्ञो वै स्वा॒हाका॒रो य॒ज्ञिय
मे॒वैत॒दिदं॑ स॒कृत् सर्व्वं॑ करोति ॥ ४४ ॥

सप्त॒ सप्ते॑ति । सप्त॒चित्तिको॑ऽग्निः सप्त॒ ऽर्त्तवः
सं॒व्वत्स॒रः सं॒व्वत्स॒रो ऽग्नि॒र्या॒त्रानग्नि॒र्या॒वित्य॑स्य॒ मात्रा
ता॒वतै॒वेन॑ मे॒तत् प्री॒णाति॑ तिस्र॒ आहु॒तीजु॑होति

त्रिवृदग्निर्वावाननिर्वावित्यस्य मात्रा तावतैवैव मेत-
दन्नेन प्रीणाति तिस्रः समिध ऽच्चादधाति तत्
षट् तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ४५ ॥

तिष्ठन्त्समिध ऽच्चादधातिः । अस्थीनि वै समिध-
स्तिष्ठन्तीव वा ऽअस्थीन्यासीन आहुतीर्जुहोति मां-
सानि वा ऽआहुतय ऽआसत ऽइव वै मांसान्य-
न्तराः समिधो भवन्ति बाह्या ऽआहुतयो ऽन्तराणि
ह्यस्थीनि बाह्यानि मांसानि † ॥ ४६ ॥

अथातः सम्पदेव ‡ । षट् पुरस्ताज्जुहोति षडु-
परिष्ठात् षड्भिराग्मनः पृश्नेर्यन्ति द्वाभ्या मग्मानं
पृश्नि मुपदधाति चतुर्भिराग्नेर्यन्ति. पञ्चभिरग्नि-
मारोहति तदेका न्न त्रिंशदाहुतिरेव त्रिंशत्तमी
द्वाभ्या मग्निं निदधाति तद् द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद-
क्षरानुष्टुप्पैषानुष्टुप् § ॥ ४७ ॥

* 'ऽच्चादधाति'—इति ख ।

† 'मांसानि'—इति ग, 'मांसानि' इति ख, क,

‡ 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

§ '०षैषानुष्टुप्'—इति ग, '०षैषानुष्टुप्'—इति घ ।

तथा ऽअमस्तिस्त्रो ऽनुष्टुभः । गार्हपत्ये सम्पा-
 द्यन्ति तामा मेता मचैका माहरन्ति तद्यदेता
 मत्राहरन्त्यचैष सञ्ची ऽग्निः संस्कृतः स ऽएषोऽत्र तस्मै
 नाल मासीद्यदन्न मात्स्यत * ॥ ४८ ॥

सो ऽग्नि मब्रवीत् । त्वयान्न मदानीति तथेति
 तस्माद्यद्वैत मत्राहरन्त्यथैषो ऽल मन्नायाल माहुति-
 भ्यो भवति † ॥ ४९ ॥

अथो ऽषाहुः । प्रजापतिरिवैतं प्रियं पुत्र सुर-
 स्याधत्त ऽद्वृति स यो हैतदेवं व्वेदा हैवं प्रियं पुत्र
 सुरसि धत्ते ॥ पू० ॥

यद्वैत मत्राहरन्ति । यान्वै तांस्सप्त पुरुषा-
 नेकं पुरुष मकुर्वन्नय मेव स यो ऽय मन्निश्चीयते ऽथ
 या मेषां ता मूर्द्धां श्रियं रसं समुदौहन्नेष स
 य मेत मत्राग्नि माहरन्ति तद्यदित मत्राहरन्ति
 यैवैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीर्यो रसस्तु मेत-

* 'मात्स्यत'—इति ग, 'मात्स्यत'—इति घ ।

† 'भवति'—इति क ।

दृष्टुं स मुदूहन्ति तदस्यैतच्छिर ऽप्रात्माय मग्नि-
 श्वित ऽप्रात्मान मेवास्यैतत् संस्कृत्य शिरः प्रति-
 दधाति ॥ ५१ ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२, ३.] ॥

इत्य मग्निप्रणयनार्थं यद्योक्तं होमं विधायाय तत् प्रयो-
 गौपायिकीः (?) * क्रियाः कर्तुं तदुचितं सम्यैव माह,—
 “अथातः सम्प्रेष्यतीति । प्रणेप्यमाणाग्नि मिध्यर्थं गार्हपत्ये
 प्रक्षिप्तं काष्ठमिभस्तदुद्यच्छ † अग्निधारणार्थं मधस्तात् क्रिय-
 माणाः सिकता उपयमन्यः ताद्योपयच्छेति ‡ एतदुभयं प्रति-
 प्रख्यातारम् प्रत्युच्यते । हे होतः प्रणीयमानायाग्नये अनु-
 ब्रूहि अग्निप्रणयनीया ऋचोऽनुब्रूहि । हे अग्नीत् पराच्यास्फर-
 रेणया § अनुगच्छ ॥ । हे ब्रह्मन् ‘आशुः शिशान’ इत्येतद-

* ‘तस्मायागोपयिकीः’—इति छ, ‘तत्प्रायणौपयिकीः’— इति अ, भ.

‘तत्प्रायागोपयिकीः’—इति अ ।

† ‘काष्ठमिकातंदुद्यच्छ’—इति छ, ‘वाष्टमिकातंदुद्यच्छ’—इति भ,

‘प्रक्षिप्ता वाष्टमिकां तदुद्यच्छ—इति अ ।

‡ ‘ताद्योपयच्छताः कुरुत’— इति अ-पुस्तके ।

§ ‘यथंराथा (एकस्फयया ?)—इति छ. भ ।

॥ का० श्री० सु० १८, ३, १६ ।

प्रतिरयाख्यं सूक्तं * जपेति एवं तत्र तत्र व्यापारे तं तं
 'सम्प्रेषति' विनियुञ्ज्यादित्यर्थः । अत्र सम्प्रेष "ब्रह्मव
 प्रतिरथम् जपेति" यदुक्तं तस्योपयोग मभिधातुं सुराकल्प
 मवतारयति ॥ १ ॥

“एतदा इति । एतस्मिन् काले खलु एत मग्निं चय-
 नाख्यं यज्ञं तत्स्यमानान् कर्षिष्यमानान् इडभावस्वादयः (?)
 अतएवाग्निविहारमर्मापि गच्छतो देवान् दक्षिणभागेन एका
 'असुरा रक्षांसि'त्वेन लोडार्थेच्यत्ययेन लृट्-प्रत्ययः । 'न यजध्वं'
 न विस्तारयध्व मिति । इन्तु मैच्छन् देवानां यज्ञं विहन्तु
 मि च्छित्यर्थः ॥ २ ॥

पश्चात्तैर्देवै रस्माकं मध्ये त्वमेव प्रशस्ततमो बलवत्तमश्च
 बलिष्ठश्च वीर्यवत्तम इति । अतस्त्वमिमानि रक्षांसि प्रति-
 पद्यं कुरुष्वेत्युक्ते इन्द्रेण मे ब्राह्मणो द्वितीयोस्त्वित्युक्ते, तथैव
 कुर्म इति । इहस्यतेर्ब्राह्मणस्वात्तमिन्द्रस्य द्वितीय मकुर्वन् ;
 तथा कृत्वा ते देवा इन्द्रेण इहस्यतिना च दक्षिणतो दक्षिण-
 भागे नाशकानसुरारक्षांसि चापहत्य अनाष्टे अतएवाभये प्रदेशे
 एनं प्रकृतं यज्ञ मकुर्वत ॥ ३ ॥

“तदा एतद्” इत्यादिकस्याय मर्षः, — देवाः पूर्वं यत्
 कर्माकुर्वन् एतस्मिन् कालेऽपि तदेव क्रियते खलु इद
 मिति । अपहननक्रियाविशेषणं इदं रक्षसा मवहनन पूर्वं

देवैरेव सम्पादितं तस्माच्चरितार्थस्वादेतत् कर्म यद्यपि न करणीयं तथापि यदेतत् कर्म करोतीति तदेवा यद-
कुर्वन् करवाणीति धिया क्रियते न तु रक्षसा मपहननार्थं
तस्य तु देवैरेव सम्पादितत्वात् किञ्च स्वयं मपि चैतेन
इन्द्रेण बृहस्पतिना च दक्षिणभागस्थितामाशकानसुरान् रक्षांसि
चापहत्या नाष्ट्रेऽभये देशे एनं यज्ञं कृतवान् भवतीति । ननु
देवाः पूर्वं इन्द्रबृहस्पतिभ्यां रक्षांस्यन्नित्ये तदस्य प्रकृतं क
इन्द्रः को वा बृहस्पतिः कथं वा ताभ्यां रक्षसा मपहननं यत्
उक्तं मुपपद्यत इत्याह ॥ ४ ॥

“स यः स इति । पूर्वं दक्षिणभागे रक्षांस्यपहतानिन्द्रः परा-
सृज्यते । स य इन्द्रोऽस्ति स एष अपतिरथत्वं इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अपतिरथ मेन्द्रात्मकत्वं मुपपादयति -- “आशुः शिशानः
इति । मन्त्रप्रतिपाद्याया देवताया मन्त्रस्य या भेदात् आशुः
शिशान इत्यादिका ऐन्द्रं ऋचांभिरुपाः नदृशा भवन्तीति
इन्द्रत्वेन स्वीकर्तुं मुचिता भवन्तीति अर्थः । अपतिरथसूक्त-
स्थाना मृचां द्वादश मञ्जाया कृत्स्नाग्नेः सकाशादसुरा रक्षांसि
चापहन्यन्त इति प्रशंसति । *) “द्वादश भवन्तीति । तामां
इन्द्रः प्रशंसति — “विष्टुर्बुभि रिति । विष्टुर्भा वज्रत्वं वज्र-
वेन्द्रेण महात्पत्तः सा चोत्पति स्तौत्तिरीयके श्रूयते — “उरसो
बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमोत मिन्द्रो देवतान्ब सृज्यतत्

* वा० सं० १७ ३३ ।

† बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

त्रिष्टुप्कन्दः इति । अथवा वीर्यवत्त्वात्त्रिष्टुभो वचत्वं वीर्य-
वत् उरः प्रदेशो निर्माणात् । अतएव श्रुतं,— त्रिष्टुप्
कन्दो बृहत्साम राजन्यो मनुष्याणा मविः पशूनां यस्मात्ते
वीर्यवत्सो वीर्यादृशसृजन्तति । मनु प्रकृतस्याग्निर्मत्वात्
तत्रैतासामैन्द्रोणा मृवा सममवेतार्थं त्वंस्यादित्यत आह,—
“ता हाविंगति रिति । चतुषत्वस्वारिंशदक्षरा हादश
त्रिष्टुभः सभृयाष्टाविंगतिपञ्चशताक्षराणि सम्पद्यन्ते चतुर्विंश-
त्यक्षराणां गायत्रोणां हाविंगतिस्तावदक्षरा भवन्ति । अतो
हादश त्रिष्टुभो मित्वा हाविंगति गायत्राष्टाम्नेथ्यो *
भवन्ति अग्निना सहोत्पन्नत्वात् । अतएव श्रूयते,— “समुश्च
तत्त्रिभृतन्निरमिमौत त मग्निदंयता च सृज्यत् गायत्रीकन्दस
इति, प्रकृतश्च कर्माग्निसम्बन्धि भवन्ति । तत् प्रणयनात्मक-
त्वात् । अतस्ता ऋच ऐन्द्रोयोपि कन्दः सम्पत्तिद्वारा प्रकृति
कर्म समवेतार्था एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

इत्थं ब्राह्मणकृतस्याप्रतिरथ सूक्त † जपस्योपयोग मुक्ता-
याम्नेरुशमन ‡ समन्वकं विधत्ते— “अथैन मिति । “उदु
त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चितिभिरित्यादिना § मन्त्रेणेत्यर्थः ।

* ‘गायत्रास्ताश्च मेथ्यो (१० गाय अत्र चाग्नेय्यो)’--इति क, अ ।

† ‘ब्रह्मकृतस्याप्रतिरथसूक्त’--इति अ, ‘ब्रह्मकृतस्याप्रतिरथ-
सूक्त’ इति अ ।

‡ का० श्रौ० सू० १८. ३. १८ ।

§ वा० सं० १७. ५३ ।

तस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणं प्रागुक्तं मित्याह— “तस्योक्तो बन्धु
रिति ॥ ७ ॥

उद्यमनानन्तरं * अध्वर्युपभृतीनां चित्यं प्रति † गमनं
विधत्ते ‡— “अथेति । अत्र “पञ्चदिशो देवि § रित्या-
दिभिः पञ्चभि ऋग्भिराम्नीधपर्यन्तं गच्छन्ति । अतस्तस्मा
ऋचः क्रमेण व्याचष्टे— “देवाद्यासुराद्येत्यादिना प्राजापत्य-
भृता देवाद्यासुराद्येत्येते उभये दिग्विषयेस्पर्धां कृतवन्तः ;
पश्चाद्देवासुराणां दिशो वृञ्चन्तः ततो गमस्य स्वाधिनी कृतवन्तः ।
मध्ये पञ्चदिशो देवोरित्यदिभिः पञ्चभि ऋग्भि राम्नीध-
पर्यन्तं गच्छन्ति । अतस्तस्मा ऋचः क्रमेण व्याचष्टे,— “यज्ञ
मवन्त्वि यनेन तथैव यजमानोऽपि ह्येषं कुर्वतो भ्रातृव्यस्य
दिशं स्वाधिनाः करोति । “देवोरित्यनेन एनादिशो देव-
सम्बन्धिनीः कुरुते । असुरेभ्य उपगमय्य देवैः स्वाधिनी-
कृतत्वाद्देवोरित्यनेन तथैव सम्पादितवान् भवतीत्यर्थः । “यज्ञ
मवन्तु देवोऽन्येन प्रकृतस्यैव यज्ञस्यावनं विवक्षितं मिति
दशयति,— “यज्ञ मिम मिति । अमतिशब्दस्वाशनेच्छार्थं
इति व्याचष्टे— “अपामतिमिति । अशनायोदन्येत्यादि ॥

* ‘उपयमानान्तरम्’ इति क्व ।

† चित्यं प्रति [आग्नीधपर्यन्तं]—इति क्व ।

‡ का० आ० सू० १८. ३. १६ ।

§ वा० सं० १७. ५४ ।

॥ “अशनायोदन्यधनाया वृभुञ्जापिपामागर्ध्व” —इति पा० सू०

३. ४. ३४ ।

सूत्रेणाशनाया शब्दः क्यजस्तो निपातितः । रायस्योष इति धने तद्विषये पोषेवेति वक्तुं सभिपेत मित्याह,— “रायस्योष इति रायस्योषे अधीत्यत्रापि तथैव विशिक्त मित्याह,— “रायस्योषे अधोति यजमानस्यैव पूजकत्वात् ॥ ८ ॥

“मामहान” शब्दो यजमानपर इत्याह,— “यजमानो वा इति । अग्नेरुक्थानि स्तोत्रशस्त्राणि पत्रवटङ्गानि भवन्तीत्यग्नेरुक्थपत्र इत्याह,— “उक्थपत्र इति । यतो देवाः ‘तप्तं घर्मं’ घर्मलक्षणं अग्निं ‘परिगृह्याय यजन्त’ ; अत उच्यते मन्त्रे,— ‘तप्तं घर्मं’ इत्याह— “तप्तं घर्मं मिति । उत्तरवाक्य मप्येव मेव व्याचष्टे,— “ऊर्जति । ‘ऊर्जा’ आज्यदधिपयःप्रभृति तारमेनेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अग्निदं वसम्बन्धित्वा डारयत् त्वाज्जीपयित्व सत्वाच्चाग्निरेव ‘देश्यायेत्यादिनोच्यत इति । देवायेति उत्तरवाक्यद्वयं प्रसिद्धार्थे मित्याह,— “देवश्रीरिति परिगृह्येति ‘देवा देवभ्य इत्यञ्चर्यन्त’ इयेतत् पटं व्याचष्टे,— “अञ्चरो वा इति । अञ्चर्यन्त इति “कञ्चञ्चरपृत्तनस्यचिन्लोप इति” * अकारलोपः ॥ १० ॥

“वीतं शमित” मिश्रस्य पटद्वयव्यर्थं माह,— “इष्टं स्विष्टमिति । अत्रयुहोत्तवह्मणा यथ स्यात् यथायथं मन्त्रं जप एव ‘तुरीयो यज्ञ’ इति व्याचष्टे,— “अञ्चर्युः पुरस्तादिति ‘वाकाशिप्र’ इत्यनयोः शब्दयोः समानाधिकरणाशङ्का निवारयति ।

“ततो नो वाकाद्याधिषेति । एतस्य प्रणीयमानस्याग्नेरादित्या
त्मकत्वात् ॥ ११ ॥

स एष प्रणीयमानान्निमज्जणः सूर्यस्यैव रश्मिभि र्युक्तो
हरितवर्ण 'केशः' तेजोरूपः सविता अनवच्छिन्नं पुरस्तादे
तदुद्यच्छति । अतो मन्त्र इम मेवार्थं सावर्णत्याह,—
“सूर्यरश्मिरिति । कृष्णः पशुजनकत्वेन 'पृषा' इति पशुशब्दः
उच्यते वाग्नयेरनुज्ञायां प्रवर्तन्त इत्ययमर्थः मन्त्रभागेन विव-
क्षितः इत्याह,— “पशवो वा इति । 'प्रेरत' इति ईरगता *
वित्यप्यादादिकस्य लिटि बहुवचने रूपम् । अग्नेः प्रजापत्या-
त्मकत्वेन सर्वस्यापि दृष्टत्वादक्षितत्वाच्च तत्रायं 'सम्पश्यन्नि-
त्यादि मन्त्रभागः समवेतार्थं मित्याह — “सम्पश्यन्नि-
ति । देवा दीयन्त देवमस्वभिन्यः पञ्चदिशः अमति मग्नेच्छा
दुर्मति अशास्त्रोमां मतोत्रापवाधमानाः धने तद्विषये पोष
च यज्ञपतिं मस्वभिन्य एनं प्रणीयामानाग्निः लक्षणं यज्ञ
मवत्तु अस्यादिति “कृत्स्मि लुङ् लङ् लिट्” इति लोडुं
लुङ् प्रत्ययः † किञ्चाय मपि यज्ञः धने तत् पोषेचाधि-
तिष्ठत्विति प्रथममन्त्रस्याय मर्थः । सम्यग्दोषे अतो प्रणीय-
माने मामहानेचर्थं पूजको यजमानोऽधिकारभावेनानुगच्छति ।
उक्थान्येवाङ्गानि यस्य स उक्थपत्र ईश मृत्या यज्ञियो
वामवानिरध्वर्युणाधारितः किञ्च देवास्तप्तं घर्मात्मकं त मग्नि

* “ईर गतो कम्पने च अः आः १०१६ धा ।

† पा० सू० ३ २ ३

परिगृह्याय यजन्त स्तमत्वादेव च यज्ञरूपं तं प्राज्यादि-
 हविलक्षणेनानेनागमयन्तेति द्वितीयस्यार्थः । होमसम्बन्धिने
 धारयित्वाजीषयित्वात्तमायाम्नये हविर्दानार्थं तत् प्रणयनं क्रियत
 इति वाक्य शेषः । किञ्च यो देवश्रीः श्रियन्त इति श्रियः
 देवाःश्रियो यस्य स तथोक्तः ; भक्तेभ्यः श्रियं दातुं मनो यस्येति
 श्रीमनः , शतानि पयांसि यस्यासौ शतपयः , त मग्निं
 परिगृह्य देवाय जनःप्रदेशं गतवन्तः । गत्वा च देवा ऋत्विग्मि
 र्या देवेभ्यो यज्ञ मिच्छन्तः स्थितवन्त इति तृतीयस्यार्थः ।
 “शमिनेति तृतीयैकवचनस्य सु इत्यादेशः । स मित्रा अग्न्यर्ष
 यागाय हविः वीतं इष्टं यत्र यस्मिन् प्रणयनप्रदेशे हव्यं हव-
 नार्हं मग्नि मध्वर्यादीनां 'मन्त्रं अपावाक् तुरीयो यज्ञो गच्छति
 तथाविधानात् तस्माद्गमे ऋग्यजुस्सामलक्षणानि वाक्यानि प्राशि-
 षष नोऽस्मान् जुषन्ता मिति चतुर्थस्यार्थः । सूर्यस्य रश्मिभि-
 र्युक्तो हरितवर्णकेशः ज्योतिरूपः प्रणीयमानोऽग्निलक्षणः सविता
 अग्नदच्छिव मुञ्चच्छति । तस्याग्ने रनुज्ञायां अग्ने महिमानं
 विद्वान् पूषा याति (तदुत्पाद्याः पशवः प्रवर्त्तन्त इत्यर्थः ।
 किञ्च सोऽग्निं विश्वानि भुवनानि सम्पश्यन्तेषां रक्षको भवतीति
 पञ्चमस्यार्थः) * ॥ १२ ॥

तयैवैतद्यजमानो भ्रातृश्वस्य वृक्त इति सामान्येनोक्तं सम्प्रति
 ता एव पञ्चदिशो विशिष्य दर्शयन् तासा मुक्त मन्त्रै स्वाधीन-

* वन्दनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

तथा प्राप्तिमाह— “तथा इति, तदिति । ‘देवा’ यस्मिन् काले ‘असुराणां’ दिशो हञ्जत तस्य कालस्य परामर्शः एतच्छब्देनामन्तरोक्ता मन्वाः परामृश्यन्ते । अहञ्जार्तिभ्यो य ममितवन्तः समारोहयन् स्वाधिनी कृतवन्तः । ‘अथो इति । किञ्च देवा कं तस्मिन् काले ‘एताभि’ ऋग्भिः ‘आतः’ सूर्यावस्थानप्रदेशलक्षणान्तरिक्षपर्यन्तं सम्प्राप्नुवन् तद्देवाय मपि यजमानो भ्रातृव्यतोपगमप्यस्वाधिनी कृतास्ता पञ्चदिशः आतः अन्तरिक्षात्मकाम्नीधमण्डपपर्यन्तं सम्प्राप्नोति ॥ १३ ॥

उक्ते मन्वे आम्नीध्रपर्यन्तं गत्वा तत्रैकस्य पृश्निवर्णस्याश्मन उपधानं विधत्ते #— “अथेति । ‘पृश्नि शब्देन चैत्य †’ मुच्यते पृश्नेरश्मन ‡; उपधानेनादित्यस्यैवोपधानं भवतीत्याह । “असौ वा इति । आदित्यमण्डलमादृश्यप्रदर्शनेनोक्त मश्मनः पृश्निव सुप- पादयति । पृश्नि भवतीति तस्य चाश्मन उपधानं गार्हपत्या- हवनीययो मध्ये कर्त्तव्यमित्याह— “त मन्तरुणोति । गार्हपत्या- हवनीययोरधस्तनोपरितनलोकद्वयात्मकत्वाद्भौकद्वयस्य च मध्ये सूर्यस्य तपनात् सूर्यात्मकस्याश्मनस्तत्रोपधानं सुपपन्नमित्याह । (“अयं वै लोक इति । गार्हपत्याहवनीययो मध्यभागस्योपधानं

• “आप्नीध्रदेशादक्षिणं पृश्नामहितं पृश्नाश्मानं सुपपन्नाति”— इति का० श्रौ० सू० १८. ३. १६ ।

† “! चैत्यं” वा “चैत्रा० ?” इति कृ ।

‡ “पृश्ना० नं तनं, वृत्तं पाषाणं विचित्रवर्णं वा” इति का० श्रौ० सू० १८. ३. २० ।

स्थानतया विज्ञानादाग्नीधादन्यत्रापि तदुपधानं स्यादित्यत
चाह ॥ १४ ॥

“आग्नीध्रवेलाया मिति । ‘वेला’ शब्दः अवकाश माचष्टे ।
गार्हपत्याह्वयनीययोरधस्तनो) * परितन लोकात्मकयो मध्यवर्त्ति-
त्वयाग्नीध्रस्यान्तरिक्षात्मकत्वं व्यध्व इत्यर्धमार्ग उच्यते, तत्रैतस्या-
श्मन उपधानं क्रियते तस्मादितः प्रदेशादूर्ध्वं † मार्गं एष सूर्य
क्षपतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथ तथाश्मन आदित्यात्मकत्वादादित्यस्य च प्राणाद्या-
त्मकत्वात्तदुपधानेनात्मनि प्राणादिधारणं सम्पाद्यत इत्याह,—
“स एष इति । ‘स’ आदित्यात्मकादित्यरूपत्वात् आदित्यस्य
च प्राणत्वं तदुपाय प्राणिन श्रेष्ठम् । तदस्ममये तु न चेष्टस्त इति ।
अतएव श्रूयते— “यो सौ तपस्रुदेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणा-
नादायोदेति । ०—० । असौ योऽस्तमेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणा-
नादायास्तमेति इति ‡ । प्राणत्वादेव वायुरूपत्वं प्राणिना मेव
जीवनकालसम्बन्धात् । “आयुर्ह्येतदिति । एषो श्मा यतः कारणा-
दायु एतदिति नपुंसकलिङ्ग मायुरित्येतदपन्नं तस्यायु रन्नं तद्वता
मेव भोक्तृत्वात् । अत एतदन्नं तस्मात् तदुपधानेन स्वकीय
मात्मनि प्राणादीन् धारितवान् सम्भवति ॥ १६ ॥

अथ तस्योपधाने मन्त्रद्वयं प्रदर्शयद् व्याचष्टे,— “स उप-

* बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘प्रदेशाद् व्यध्वे’- इति क्, ‘प्रदेशादूर्ध्वे’ इति ज ।

‡ तै. ब्रा० १. १४. १

इधाति विमान एष #” इति । ‘हि’ यस्मात्कारणात् ‘एष’ सूर्यो-
ऽभूत् यामस्य निर्माता द्युलोकस्य मध्ये चास्ते , अत उक्तं,—
‘विमान’ इति उदयमनः सूर्यः पृथिव्यादोन् स्वप्रकाशेनापूर-
यतीति । त मर्थं माहेति व्याचष्टे,— “आप प्रिवानिति ।
‘प्रः पूरणे’ †— इत्यस्माद्वर्तमानार्थस्य लिटः कसुरादेशः ।
‘विद्याचोष्टाचो’पदाभ्यां विखेष्ठां भूतानां ‡ च व्यापनात्
वेदयः सुचय विवक्षन्त इत्याह,— “स विद्याचीरिति ,
“पूर्व मपर मिति । पृथिवी द्युलोकमधीयन्ते , किञ्च ‘पूर्व’
मित्यनेन पूर्वचतो गार्हपत्या उच्यते,— अपर मिति अनेने-
दानीं चीयमान आह्वयनीय इति व्याचष्टे,— “अन्तर पूर्व
मिति ॥ १७ ॥

द्वितीय मन्त्रे,— “उक्षा समुद्रः § । (पूर्वत्वाद्योनिं” मध्ये
द्वित्रम इति पाठत्रयार्थः प्रसिद्धा इत्याह । “उक्षा समुद्रो
अरुण इति चतुर्थपादे ‘रजः’ शब्देनैते लोकाः) ॥ विवक्ष्यन्त
इत्याह,— “विवक्रम इति । भूत यामस्य निर्माता द्यावा
पृथिव्या अन्तरिक्षं ता समस्तात् पुरयन् एष सूर्यो द्युलोकस्य
मध्ये तिष्ठति ; किञ्च स सूर्यो पूर्वापरश्च केतुं लोक मन्त-

* वा० सं० १७. ५६ ।

† अ० आ० १०६१ धा० ।

‡ विखेष्ठां हविष्ठां घृता—इति अ ,

§ वा० सं० १७. ६० ।

॥ अन्वनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज पुस्तकादभ्यन्त ।

राद्यावापृथिव्यो मध्ये गार्हपत्याहवनीययो र्वा मध्ये विष्ण-
 वीशुव य भिरष्टे पयतःति प्रथमस्यार्थः । उक्षावेवक
 “आदि याज्यायते वृष्टिः * इति तस्य वृष्टिहेतुत्वात् । अतएव
 समुद्रात्मकः वर्णितारुणः पर्णशब्देन पतन मुच्यते । शोभन-
 तपन एत्रिविधः सूर्यस्य लोकस्य पितृरूपस्य योनिं स्थान
 माविवेश भूलोकाददित्याज्यायमान इव दृश्यत इति तस्य
 पितृलोकोपचारः । किञ्च देवो मध्ये आग्नीधमण्डपलक्षणे
 निहितः वर्णत ‘पृथ्विरश्मा’ अश्वरूपः सूर्यः विविधं लोका-
 क्रमं ‘कृत्स्नि लुङ्लङ्लिट्’ इति वर्त्तमाने ‘लिट्’ “विक्रम-
 माणो वा एष एषां लोकाना मस्तान्याति”-इति श्रुतेः । रजस
 इयेक एव नं अस्तान्ति । (इव एव वा विवक्षितं लोकाना
 मस्तान् पीतान् पाति स्वकीयेन प्रकाशेन तमो निवर्त्तयन्
 पदार्थांश्च दर्शयन् रक्षतीति) † द्वितीयस्यार्थः ॥ १८ ॥

उपधान मन्त्रयोहित्वं प्रशंसति,— “हाभ्या मिति । अथ
 तयोरेद कृत्स्नः प्रशंसति,— “त्रिष्टुभ्या मिति । ‘एष’ सूर्य
 स्त्रैष्टुभ (स्त्रैष्टुभे अन्तरिक्षे वर्त्तमानत्वादन्तरिक्षस्य स्त्रैष्टुभ) ‡ त्वं
 तैत्तिरीयके सूर्ये श्रूयते— “गायत्री पृथिवी त्रैष्टुभ मन्तरिच
 मिति § प्रकृतस्यात्मन इष्टकान्तरवदुपधानस्य विधानात्तद्देव-

* मनु सं० ३. ७६ ।

† बन्धनीचिह्नानाः पाठो नास्ति अ-पुस्तकादन्यत्र ।

‡ बन्धनीचिह्नान्तः पाठो नास्ति अ-भ-पुस्तकयोरन्यत्र ।

§ “गायत्री त्रै पृथिवी त्रै ष्टुभ मन्तरिचं”—इति तै० सं० १. ७. ५. ४

साधनप्रसक्तो निषेधति न सादयतीति तत्रोपपत्ति माह—
 “असन्नो ह्येष इति । स एष सूर्यः असन्नः क्वचिदेवावस्थितो न
 भवति सर्वत्र परिभ्रमणादित्यर्थः । माभूदसन्नत्वात्तस्य सादनं
 सूददोहसाधिवदन मपि न कर्त्तव्यमित्यत आह— “न सूददो
 हसाधिवदतीति । सूददोहसाधिवदन मपि न कर्त्तव्यं कुत इत्यत
 आह,— “प्राणो या इति । प्राणात्मके सूर्ये प्राणात्मकस्य
 सूददोहस्या पिष्टपेषणवन्निष्कल्यादित्यर्थः । तस्योपहितस्वाग्मनो
 रक्षां विधायाहवनीयदेशंप्रति गच्छेदिति विधत्ते,— “तत्रि-
 धायेति । यथाऽग्निमान न नश्येत्तं निधायाम्नीधसमीपदेश मति-
 क्रामियुःरित्यर्थः ॥ १८ ॥

“तस्योक्तो बन्धुरिति “इन्द्रं विश्वा अशीवधम् † इतीन्द्रं
 हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्तीत्यादिनास्य ब्राह्मणं षष्ठकाण्डेऽभि-
 हितम् । “देवहरित्यादिकस्याय मर्थः,— यतो यज्ञो देवानाह्वय-
 तीति देवहः ‘सुम्न’ मिति सुम्ननामधेयं सुम्नयाह्वयतीति सुम्नहः
 तत् साधनत्वात् । अतो देवह यज्ञो देवानावचत् आवहत्
 सुम्नह्वयज्ञो देवानावहत्वित्युच्यते । पञ्चसैवाग्निरिति अग्निदेवो
 देवान् यजतु आवहेत्येतदुक्तं भवतीति यज्ञकत् । वचत् यज्ञत्
 वहतर्यजेष सिब्वहुलं लेटीति ‡ सिप्रत्ययो लेटोऽडाटाविश्य-
 डागमः इतश्चलोप इति तिप इकारलोपः ॥ २० ॥

• निधायैनमतिक्रामतीन्द्रं विश्वा इति”—का० श्रौ० सू० १८. ३. २१।

† वा० सं० १७. ६१ ।

‡ पा० सू० ३. १. ३४ ।

“वाजस्येति” “उद्गाभस्येति” मन्त्रद्वयं † निगदव्याख्यात मित्याह,— “वाजस्य मा प्रसव इति । पञ्चदिशो दैवीरित्यादिभिर्मन्त्रैर्गार्हपत्यादाम्नीध्रपर्यन्तं गमने भ्रातृव्यसम्बन्धिनीः सूर्यादर्वाचीः । पञ्चदिशस्ततो गमय्य स्वयं प्राप्तवान् भवतीति उक्तम्,—

अथ “इन्द्रं विष्णा अवीस्रधन्” इत्यादिभिर्मन्त्रैराम्नीधादाहवनीयं पर्यन्तं गमने सूर्यादूर्धा भ्रातृव्यसम्बन्धिनीश्चतस्रो दिशस्तथैव प्राप्नोतीत्याह,— “तदा अमुष्यादित्यादिना — “घात इति युक्तोक्तपर्यन्त मित्यर्थः ॥ २१, २२, २३ ॥

चित्त्वाम्नि समौपगमगानन्तरं † क्रमध्व मित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः ‡ स्तस्यारोहणं विधत्ते §— “अयाम्नि मिति । चित्त्वाम्निरुपरिधार्यमाद्ये उस्थाम्नी होमविधानेन तत्र तदा वचनार्थं कस्याश्चिदपेक्षणादग्निनिधाने यजमानस्यापि निधानात् तदपेक्षामारोहन्तीति वद्वचनम् । “स्वर्गो वै लोको नाकः” इत्यदिनारोहणमन्त्रान् व्याचष्टे— “क्रमध्व मिति ॥ तेषा मेव परचेणाभिधानम्, ‘अग्नेनाग्निना’ चित्त्वाम्निना ‘एतम्’ इत्यभिनयेन निर्देशः ‘एतं स्वर्गं’ क्रमध्वं अप्रतिविधं न गच्छतीत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः । एते क्रममाणा अध्वर्युप्रभृतयः एन मुस्थाम्निं हस्तेषु विभ्रतः धारयन्तः अतः रसा एवार्थो मन्त्रेषु प्रतिपाद्यते ।

• वा० सं० १७. ६३, ६४ । † ‘गनामंवरं’—इति छ, झ ।

‡ वा० सं० १७. ६५—६६ ।

§ “क्रमध्व मयिनेति चित्त्वमारोहन्ति ।”—इति का० श्रौ० सू०

“दिवस्पृष्टं स्वर्गलोक मित्स्वनेन मन्त्रे ‘स्वर्गत्वा’ इत्यत्र स्वरित्-
स्वार्थ उक्तः । अत्र ‘दिव’-शब्देन द्युलोक उच्यते, द्युलोकस्य
पृष्टं उपरितनं स्वर्गं सुस्वातिशयहेतुं तस्यैवज्ञानविशेषां ब्रह्मा
देवेभिर्देवैर्मित्राः संयुताः सन्तस्तिष्ठतेत्यर्थः । ‘दिवस्पृष्ट’ मिति
षष्ठ्याः पतिपुत्रेत्यादिना विसर्जनीयस्य सकारः ॥ २४ ॥

प्राची * वै दिग्मन्त्रे रिति । प्राचीदिग्मन्त्रेः सम्बन्धिनी कस्य
अतएव तैत्तिरीयकं— “प्राचीदिक् अग्निदेवता”—इति † । “अस्य
त्व मिति । अस्येष्टका स्वस्वरूपस्वाम्ने त्वं पुरोवर्तमानोऽग्नि
र्भवेदं यज्ञे इत्युक्तं भवति । “दीप्यमान इति । दीप्यते इत्यस्यार्थ-
कथनम् ॥ २५ ॥

“पृथिव्या अह ‡ मिति । गार्हपत्यस्याग्नीध्राहवनीयानां
पृथिव्यादिलोकत्रयात्कृत्वात् क्रमेण तदागमनात् पृथिव्यादि-
लोकत्रयं क्रमेण कृत्वावानसीत्यर्थः । ‘आहह’ मिति “कर्महृद्भिभ्य
श्चन्दसि-इति चुरहादेशः” § : “दिवो नाकस्येति । नाकस्य
सुखहेतुभूतस्य द्युलोस्य ‘पृष्ठात् ज्योतिर्विधिष्टं’ प्रकाशमानस्य
लोक ‘मगामह’ मित्येतदुक्तं भवति । अत्रापि पूर्ववत् सुस्वाति-
शयहेतुभूतो द्युलोक देव्यविशेषः स्वर्गशब्देनोच्यते ॥ २६ ॥

“न इवेति । ते स्वर्गलोके यन्ति ते फलान्तरत्रापेक्षन्ते
स्यु, अत उक्तं स्वयन्त ॥ इति । एष एवेति सर्वेषां प्रका-

* वा० सं० १७. ६६ ।

† तै० ब्रा० ३. ११. ४ १

‡ वा० सं० १७. ६७ ।

§ पा० सू० ३. १. ५२ ।

रेष जगद्धारयतीति । 'एष एव यज्ञो विष्णतोधारः' येन एवं यज्ञं वितन्वते एत एव सुविदांसः खलु विदुषा मेव यज्ञ निष्पादकत्वादित्यर्थः ॥ २७ ॥

“अग्ने प्रेहोति* । “इम मेतदिति । 'त्व मेषां' देवान् प्रष्टुमिच्छतां 'प्रथमः' प्रेहोति इमं मुख्याग्निं माह-अग्नेषुष्टुष्टुर्वदुपकारत्वात् । 'इयक्षमाणा' इति व्याख्यातं यजमानं भृगुभिरिति स्पष्टमन्यत् । उक्तं मन्त्रस्याध्येन वित्याम्नेरारोहणेन स्वर्गं लोके विद्यमाना भ्रातृव्यसम्बन्धिनीः पञ्चदिशः पूर्वतः प्राप्तवान् भवतीत्याह ॥ २८ ॥

“तथा अमुष्मिंल्लोक इति । अत्रापि 'पातः' इति द्युलोकादुपरितमं स्वर्गावधित्वेनोच्यते ॥ २९ ॥

चित्याग्निसमारोहणानन्तरं मस्त्रिदुस्यन्ती होमं विधत्ते । “अथेति । अग्निं जुहोति अग्निहोमेनेषितं मत्वादेन मिति कर्मणि द्वितीया विहितता । आहुतिश्चित्यं प्राप्तस्याग्ने रूपरिष्टादन्नं सम्पाद्यत इत्याह— “एतद्वा इति । विहिते होमे द्रव्यं विधत्ते— “कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा” † इति, उक्तसंज्ञाया गोः पयस उपादाने कारणं माह— “रात्रिर्वा इति । रात्रि खलु कृष्णाशुक्लवत्सास्यारात्रेरसावादित्ये वत्सः यथा गोः समीपे वर्तते तद्वदस्य रात्रिसमीपे वर्तमानत्वात् । अथ मेवार्थं स्तोत्रिरीयके श्रूयते— “अग्निश्चादित्यश्चारात्रेर्वत्सश्चेति आदित्य”-इति । एवञ्चास्याग्नेरादित्यात्मकत्वात् तथाविधाया गोः पयसा होमे स्वलोकभागेन तदेव विव्रियते,— “स्वेन

रसनेति । तत्र प्रीषितवान् भवति , प्रीषयितस्वादित्वात्क-
 स्वाम्नेरुपा एव वर्तमानत्वेनोपधार्यमाण स एवोस्यामी जुहुया-
 दित्याह ,— “उपरीति । प्रकृतहोमि साधारणं जुहुः प्राप्नो-
 तीति तदपवादत्वेनदोहनं विधत्ते— “दोहनेनेति । दोहनेन
 हि पयः प्रदीयत इति दोहनान्तरं पश्चान्तरे दोहनेने चसु
 पयः प्रदीयत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

प्रकृत मेवातिहोमं प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “यद्देवेति ।
 अग्नेः शिरोवत् प्राधान्यात् सच्छिरसं पयसः प्राणत्वं तत्
 पुष्टिहेतुत्वात् । “यथा स्वयमाट्क्षा मिति । होमावसरे
 स्वयमाट्क्षाया उपरि किञ्चिद्यथा ‘प्रक्षरेत्’ तथा होमं कुर्यात् ;
 एवञ्च स्वयमाट्क्षायाः प्राणत्वात् । अग्नेसु शिरस्वात् प्राणञ्च
 शिरसेत्युमे अपि ययो लक्षणेन रसेन सन्तनोति तदेव विवृणोति
 ‘सन्दधाति’ परस्परसम्बन्धं करोतीत्यर्थः । प्रकृतहोमो मन्वो
 दर्शयन् तत्र प्रथममन्त्रस्वभावाच्च पष्टकाण्डे प्रागेवाभिहित
 मित्याह— “नक्तोषासेति * ॥ ३१ ॥

• वा० सं० १७. ७० ।

“स्वयमाट्क्षा मध्यमिं धारयन् शुक्लवत्सा पयमाभिजुहोति
 लक्ष्याया दोहनेन स्वयमाट्क्षा भवमिच्छन्नक्तोषासेति । स्वयमाट्क्षाया
 उपरि धारयन्नयिम् लक्ष्यायाः गोः शुक्लवत्सायाः पयसा दोहनेनाभि-
 जुहोति स्वयमाट्क्षा भवमिच्छन् । स्वयमाट्क्षाया उपरि प्रतिप्रख्याता
 त मध्यमिं धारयन् नृक्षयेन पात्रेण जुहुस्यामीयेन जुहोति ॥”

—इति का० श्रौ० सू० १८. ४. २, २ ।

द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे— “अग्नेः सहस्राक्षेति * हिरण्य-
शकलैर्वा इति । प्रकृष्टोऽग्निः प्रोक्षषे विनियुक्तैः † सहस्र-
सङ्खाकैः‡ हिरण्यशकलैः सहस्राक्षः खलु, अतश्च मन्त्रे तथा सम्बो-
ध्यत इत्यर्थः । प्रकाशकत्वसाधारणेन हिरण्यशकलानां मन्त्रितो-
पचारः । “यद्ददः शतशीर्षेति । प्रजापतिशब्देनेनोचितेष्वसुषु
अन्तवर्त्तमानेन अग्नौ प्रतिष्ठितेषु तेषु स एव शतशीर्षोऽद्भुः
सम्भूदिति काण्डस्यादावुक्तम् । अतोऽत्राहः श-शब्देन सकान्तः
परामृश्यते अतोऽग्निन् काले “शतशीर्षोऽद्भु सृज्यतेति । यत्र
अत उक्तं मन्त्रे शतमूर्ध्वद्वितीत्यर्थः, यः शतशीर्षा भवति तस्य
शतसङ्खाकाः प्राणाः सहस्रसङ्खाकाः व्यानाश्च भवन्ति ।
शतं सहस्रं मित्यपरिमितं नामधेयम् । तस्मादुच्यते,—“ शतं
त इति । त्वं सर्वस्ये इति । ‘सहस्र’ मित्यपरिमितं सङ्खावच-
नात् सहस्रस्येत्यनेनापरिमितं सङ्खावत् इत्यस्यार्थस्याभिधानात्
सर्वस्या इत्येतदुक्तं भवति । सहस्रेति लिङ्गव्यत्ययः “अधीगर्धद्वे-
शाङ्गर्मणि”§-इति षष्ठी प्रार्त्ता षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्येति । ‘सर्वस्ये
राय इति चतुर्थी । “एष वै वाज इति । ‘वाज’-शब्दोऽत्रवाची तद्दे-
तुत्वादेवोऽग्निर्वाजः खलु अतस्तस्मैते विधेम वाजाय स्वाहेत्यनेन
तं मग्निं प्रीणाति । हे सहस्राक्षः शतमूर्ध्वं अग्ने ! ते शतसङ्खाकाः

* ‘वा० सं० १७. ७१ ।

† इहेव पुरस्तात् का० द. ७४. ७ ।

‡ ‘इयंस्त्राकैः’—इति ह. म, न ।

§ पा०. सू० २. ३. ५२ ।

प्राणाः सहस्रसङ्ख्याकाः व्यानाश्च भवन्ति ; त्वं सर्वस्य धमस्य
'ईशिवे' ईश्वरो भवति ; तस्मै अन्नहेतुत्वे तदात्मकाय ते वयं
परिवरेम । इदं हवि स्ते स्वाद्युत मसु इति मन्वार्थः ॥ ३२ ॥

मन्त्रगतेन द्विष्टेन सकलस्याम्नेरभि होमः सम्पद्यत इति
प्रशंसति ,— "हाभ्या मिति ॥ ३३ ॥

अग्नि होमानन्तर मुख्याम्नेषितीनां मुपरि निधानं
विधत्ते— "अथैन मिति । निधानमन्त्रे "सुपर्णोऽसि ० गरु-
त्मान् † इत्यस्वीपयोग माह । 'एतद्वा' इत्यादिना लोके हि
योर्नो मित्तं प्रजननं समग्रं रेतो विक्रियते अथयवविभागवत्
क्रियते । अतोऽत्रापि योनिरूपाया मुख्याया मंस्कृतस्याम्ने रेत-
स्वन्नस्यापि विकृत्या भवितव्य मिति । पूर्वं विकृत्या विकृति-
साधनभूतेन मन्त्रेण "सुपर्णोऽसि गरुत्मान्" इत्यादिकेन सुपर्णं
गरुत्मानं कृत्वा विकृतवान् ‡ । तथा अयनकालेऽपि 'सुपर्णं गरु-
त्मान्' एव कृत्वा विकृतवान् ; सम्प्रति 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्'
इत्यादिकेन 'सुपर्णं गरुत्मान्' कृत्वा निहितवान् भवति । चीय-
मानस्याम्नेः पक्षाकारेण अयनात् 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' इत्यु-
क्तम् । 'गरुत्मान्' प्रथमपक्षत्वात् , अतएव 'सुपर्णः' पर्ण-शब्देन

• "तस्या मधिं गिष्ट्वाति सुपर्णोऽसीति वषट्कारेण स्वयमाह-
स्वार्थां सुपर्णोऽसीति अग्नयेन वषट्कारेण चाधिं स्थापयतीत्यर्थः ।"

— इति का० श्रौ० सू० १८. ४. ५. ६ ।

† वा० म० १७. ७२ ।

‡ "वित्तवान्"—इति अ० ।

पतन मुच्यते शोभनपतनविशिष्ट इत्यर्थः । “एवं श्लेष इति ।
(एष अग्निरेव मुक्तप्रकार मेतत् सर्वं करोति यतः पत उक्तं
मन्त्रे पृथिव्याः सीदेत्यादौत्यर्थः ॥ ३४ ॥

द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे— “आशुद्धान इति ।) * ‘सुप्रतीकः’
शोभनावयवः तत्र मितरान् प्रति न अपि तु अस्मान्
मन्त्रो वेति व्याचष्टे— “न सु प्रतीक इति । अस्योस्थाम्ने
रेव चित्याग्निः स्वसम्बन्धिस्त्वानम् । अतोऽग्नेः ‘स्वी योनि’
मित्यादिना चित्याग्निं साध्याधितिष्ठते तदुक्तं भवतीति व्या-
चष्टे— “अग्ने स्वामिति अस्मानिति पृथग्यन्तरिक्षाभ्या सुप-
रिवर्त्तमानत्वेन द्युलोकान्मकत्वात् ‘अस्मिन्’ चित्याग्निरूपे
द्युलोके ‘अध्यासौद इत्यर्थः । विश्वेदेवा इत्यनेन ‘विश्वेदेवैः सह’
स्वं यजमानं मन्त्रं सादितवान् भवति हे अग्ने ! त्वम् गरुडान्
अतएवं शोभनपतनोऽसि, तादृश स्वं पृथिव्यां पृष्ठे उपविशस्व-
दीयाभासो अन्तरिक्ष मापूरय ज्योतिषा दिवं दृढां कुरु
तेजसा दिशोऽपि दृढी कुर्विति प्रथमस्यार्थः । भाः ज्योति स्तेज
इति प्रकाशविशेषाः । हे अग्ने ! त्वं पूर्वस्यां दिशि आह्वय-
मानोऽस्माकं शोभनावयवो भूयाः , अतस्त्वां योनिं चित्याग्निं
साध्यक्रियया अधितिष्ठ साधुयेति तृतीयैकवचनस्य सुपां-
सुलुगित्यादिना यादेशः । अस्मिन् चित्याग्निरूपे उत्तरे सध-
स्वेषु लोको अध्यासौद, हे विश्वेदेवाः ! यूयं यजमानवाच

सीदत । यूयं सम्प्रदानत्वेन सीदति । यजमानोऽधिकारित्वेन
सीदत्विति द्वितीयस्यार्थं स्पष्टार्थम् ॥ ३५ ॥

उत्तरवाक्यद्वये निधानान्तरं अस्मिन्नस्मिन् समिधामाधानं
विधाय ताः समिधवित्त्वाम्निं प्राप्तस्याग्ने रूपरिष्टादन्नरूपेण *
स्तोति— “अथास्मिन्निति ॥ ३६ ॥

तत्र शमीमयीं समिधं प्रथमं मादध्यादित्याह— “स वा
इति । शमीमयाः प्रथममाधाने हेतु माह— “एतदा इति ।
'एतस्या माहुत्या' मित्यनेन मभिषुहोतीति विहितताहुतिः
परामृश्यते । एतस्या माहुत्यां हुताया मग्निः प्रदीप्तः सन्
'उदज्वलत्' । पश्चादग्निं दृष्ट्वा येनोपायेनायन्नो न हिंस्यादिति ।
देवा स्तन्माङ्गीताः पश्चादहिंसांपायस्त्वेन ते शमीमयीं समिधं
मपश्यं दृष्ट्वा च मया एत मगमयन् यत एव मनया शम-
यन् तस्मिन् दर्शो शमानामधेया ऽभूत् । अतः प्रथमं शमी-
मयाः समिधं आधानेन तथैवाय मपि यजमानः शान्ते एनं
शमयति न जग्धै । जग्धिर्भक्षणं भक्षणभावाय अहिंसायै
इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ तस्या शमिममिध आधाने मन्त्रं दर्शयति †,— “ता

* “प्राप्तस्यार्थं रूपरितनान्नरूपेण” इति अ, “प्राप्तस्यार्थं रूपरि-
तन्नारूपेण”—इति छ, झ, ञ ।

† “समिधाधानं शमीमयीकहुत्यौदुम्बवंस्ताम् मवितुरिति (१७.
७४—७६) इत्युच्यते”—इति का. श्रु. सू. १८. ४. ६ ।

सवितु रिति * । “कण्वो हैना मित्यय मर्गः,— कण्वो महर्षिः
 ‘एनां’ शमिरूपां गां ‘ददर्श’ खलु अतश्च ‘सा’ ‘सहस्रधारा
 भूत्वा ऽस्मै कण्वाय ‘सर्वान् कामान् दुदुहे’ तस्मादाहिता शमी
 तथैव यजमानाय सर्वान् कामान् दुग्धे अस्याग्ने रुत्पादक-
 त्वेन सम्बन्धिनी । अतएव श्रुतिः,— “शमीगर्भादग्निं मन्यन्ते”
 —इति † । ‘प्रपीनां’ प्रकर्षेणपीवरीं ‘सहस्रधारां पयसा महीं
 महतीं शमीरूपायां गां कण्वमहर्षिरदुहेरन् । उरणीयस्य
 सवितुरभिमतां ‘चित्रां’ चाग्रनोयां ‘सुमति’ शोभन मतिं
 ‘विश्वजन्यां जनहितं यस्याः सा तथोक्ता सर्वस्योत्पादयत्रीं ता
 मह मावृण इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

शमिसमिदाधानानन्तरं वैकङ्कतसमिदाधानं विधाय तस्या
 वैकङ्कतसमिद्धोमब्राह्मणं प्रागेव षष्ठकाण्डेऽभिहित मित्याह—
 “द्यौर्वा इति । द्वितीयपादे अवसरे ‘सधस्य’ इत्येनान्तरिक्ष
 मुच्यत इत्याह,— “अन्तरिक्षं वा इति । ‘यस्माद्योने’ रित्यत्र
 योनि शब्देनैष भूलोको विवक्ष्यत इत्याह,— “एष वा इति ।
 ‘प्र त्वे हवींषि’ इति तुरीयः पादः प्रसिद्धार्थ इत्याह । “यदा
 वा एष इति । हे अग्ने ! ते त्वां ‘परमे जम्भन्’ उत्पत्तिस्थाने
 द्युलोके ‘विधेम’ ‡ परिचरेम न केवलं द्युलोक एव किं

* वा० सं० १७. ७४ ।

† तै० ब्रा० १. १. ६. ।

‡ वा० सं० १७. ७५ ।

स्तोमैः सुतिभिरुपलक्षितावयं चवरे द्युलोकादधस्थाने सधस्ये
सहस्थाने अत्तरिन्नेऽपि विधेम किञ्च कस्मान्न पृथिश्चात्मकयोते
स्व मुदारिथ उद्गतवानसि ऋ गतौ लिट् संहितायां अन्येषा
मपि दृश्यत इति दीर्घः त मेनं लोकं अनगा समिधा यज्ञेषु
द्युलोकादीना मग्निकारणत्वेनाग्नेः कारणात्मकोरे (?) होमि
उक्तः । अथ 'प त्वे हवींषि' इत्यनेनकार्याकारेऽग्नी होमौ विधी-
यते । ततः 'समिधे' सम्यक् प्रज्वलिते त्वे त्वय्येपि ह्यन्वसत्वात्
हवींषि प्रजुहुरे प्रजुहुविरे विपश्चित इति शेषः, इरयो रे इति
इरे प्रत्ययस्य रे आदेशः । अतो वय मपि समिधे त्वय्येतां
समिध मादधाति इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

वैद्वत्समिद्धोमानन्तर मौदुम्बरसमिद्धोमं विधत्ते— “अथ उदु-
म्बरी * मिति । आधातत्राया उदुम्बरसमिधः कथञ्चित् गुण
माह— “कर्णकवती भवतीति । कर्णक शब्देनात्र पत्रशाखादिकं
विवक्ष्यते । पत्रादीनां पशुपुष्टि † साधनत्वेन पशुत्वात्तथाविधायाः
समिधो होमेन पशुरूपेणैवैनं ‡ प्रोणाति । तथाविधायाः समि-
द्धोमसम्भवे किं कुर्यादिति ; तथाह,— ‘यदि कर्णकवतीं न
विन्देद्’ इति ‘दधिद्रुषं’ दधिविन्दु ‘मुपहृत्याद्’ समिधि संश्लेषा-

* “वैकङ्कतीं प्रेडो अग्न इत्यौदुम्बरी मित्यर्थः ।”

—इति वा० सं० १७. ७४. भाष्यम् ।

† “पशुपुष्टि०”—इति क् ।

‡ “पशुरूपेणैवानेनैनं”—इति ज ।

दध्यात् । तत्र समिधि 'दधिद्रव्य उपतिष्ठते' इति तत् तदेव पशुरूपं भवति । अतस्तथाविधायाः समिधो माधानोष-
त्वेन मग्निं पशुरूपेणाग्नेन प्रीणाति,— प्रेक्षो अग्नेदीहि *
इत्यादि ॥ ४ ॥

समिद्धोमानन्तर माज्याहुतीर्विधत्ते,— “अथाहुती रिति ।
यथेति लोके भुञ्जानस्य पुरुषस्य यथा शाकसूपौदनादिकं
परिविष्य पश्चात् जलादिकं पेयं पाययेत् तादृक् तदा-
ज्याहुतिकरणं भवति । प्रथम समिद्धोमस्यपरिवेषणवत् कृत-
त्वादित्यर्थः । तत्रासाधारण्येन सूत्रैव सर्वासां होम प्रसक्ता-
दाह,— “सुवेणेति । अग्ने त मद्याश्व मित्यस्य प्रथमाहुति-
मन्त्रस्य तात्पर्यार्थं माह,— “यस्ते हृदिस्पृगिति । हृदिस्पृश
मिति हृद्युभ्यां टे रूपसङ्गान् मिति सप्तम्यालुक् । हे अग्ने
'ते' तव हृदिस्पृक् † हृदयङ्गम 'स्तोम' स्तोत्र मस्ति, ते तं
स्तोमं 'अध्या' सम्बृहंक्रिया 'समित्ये' तदुक्तं भवति, अग्नेन
मन्त्रेणेत्यर्थः । अथोऽस्य मन्त्रस्य छन्दो प्रशंसति,— “पङ्क्या
शुहोति । पञ्चपादा यस्याः सा पञ्चपादा “संख्यासु पूर्वस्य ‡”—
इति पादशब्दात्स्यभाषे “पादोऽन्यतरस्याम् §”—इति । विकल्पेन

* वा० सं० १७. ७५ ।

† वा० सं० १७. ७६ ।

‡ पा० सू० ५. ४. १४० ।

§ पा० सू० ४. १. ८ ।

डोति प्राप्ते “टाहचि #”-इति षट् प्रत्ययः । ‘पञ्चचितिकोऽग्नि’
रित्यनेनाग्नेः पञ्चत्व सङ्ख्यःयोगो दर्शितः “पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः”
संवत्सर इत्यनेनापि प्रकारान्तरेण स एव प्रदर्श्यते । हेमः
शिशिरयो रुभयोरपि विहित वैशिष्ट्याविशेषणैकत्व मभिप्रेत्योः
“पञ्चऽर्त्तव इति । एवञ्चाग्नेः पञ्चात्मकस्यात्तस्य पञ्चपदपङ्क्ति
साध्यो होमे तत् समितेनैवानेनैवं प्रीणातीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

देवताविशेषं सम्बन्धेन द्वितीया माहुतिं दर्शति,—“अथेति ।
विश्वकर्मा देवतास्या इति ‘वैश्वकर्मणी’ माहुतीं जुहोति
कुर्यादित्यर्थः । ननु अस्य होमस्याग्न्यर्थत्वादत्र विश्वकर्मा-
देवत्यत्वे प्रकृतसमवेतार्थं तानस्यादित्यत उक्त ;— “विश्वकर्माय
मग्निः रिति । अग्ने तद्धोमसाधनं मन्त्रं व्याचष्टे— “चित्तिं
जुहोमीत्यादिना † । अत्र चिति-शब्दार्थं दर्शयन् तस्य चात्र
सम्बन्धिविशेषोपादानाभावेन साधारण्यात् सम्बन्ध्यन्तरप्रसक्ति
निवारणेनोत्तर वाक्योपात्तदेव सम्बन्धित्वे दर्शयति— “चित्त
मेषा मिति । तथा देवा इहागमन्नित्यत्रागमन्नित्येतस्येदं
व्याचष्टे— “यथा देवा इहागच्छानिति । आगच्छानिति
आगच्छेयु रित्यर्थः । गमेर्लुङि च्ले रङ् । ‘ऋतावृधः’, ऋत-
शब्दस्य सत्यं मर्थं इत्याह । “सत्यवृध इति विश्वस्येत्यादि
पदद्वयं व्याचष्टे— “योऽस्येति सर्वं देवाहित मित्यनेन विश्वा-

* पा० सू० ४. १. ६ ।

† वा० मं० १७. ७८ ।

हादाभ्य मित्येतद्वाख्यातम् । कीदृशा देवाः वीतिहोत्राः
होत्रा इति यज्ञनामः* वीतिरभिलाषो होत्रा येषां ते वीतिहोत्राः
कामित यज्ञाः । होत्रा शब्दो यजमाननामसु पठितः । ऋता-
वृधः सत्येन वर्धमानाः छान्दसोदीर्घः देवा यथा इहाग्नि समीपे
आगच्छतेषु तदर्थं मेषां देवानां चित्तं अस्य यजमानस्य
यज्ञं गच्छाम इत्येव रूपं जुहोमि सम्पादयामि केन साध-
नेन समाहितेन मनसा ह्यमानेनानेन घृतेन च एषां चित्तं
सम्पादयामि । यत एवं तस्मादिश्वस्याख्य सर्वस्य भुवनस्य पत्येति
विश्वकर्मणे † सर्वदा विषय प्रकाशन मच्चित्तं इदमाज्यरूप
हवि जुहोमीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

उक्त होमानन्तरं पूर्णाहुतिं ‡ विधत्ते— “अथेति पूर्णा
चासावाहुतिश्चेति § पूर्णाहुतिः आज्यपूर्णया स्रुचा सम्पाद्यमाना
आहुति रित्यर्थः । सर्वं वा इति यत् पूर्वां तत् सर्वं अपरि-
मितत्वात् , अतएवं सर्वैर्वाग्नेन प्रीणाति ॥ ४३ ॥

“सप्त ते अग्न इत्यादिना ॥ तन् मन्त्रं व्याचष्टे—तत्र ‘समिध’

* निघ० ३. १७. ८ ।

† ‘विश्वकर्मणाय’—इति ऋ , अ ।

‡ “पूर्णाहुतिश्च सप्त त इति । स्रुचा पूर्णाहुतिश्च जुहोति ।
पूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुति रिति ॥

—इति का० श्रौ० सू० १८. ४. ६, १० ।

§ पूर्णाचासावामिश्चेति’—इति अ ।

॥ ता० सं० १७. ७६ ।

मित्यनेनास्य समित्थने रुक्मा प्राणा विवक्षत इत्याह— “प्राणा वै समिध इति । प्रजापते विस्त्रंसनेन ततो निर्गता ऋषयः पृथगेव सप्तदेहानसृजत् । ततश्च तान् व्यवहारासमर्थान् दृष्ट्वा पश्चात् तानैकमेव पुरुषं मकुर्वन् । एतत् सर्वं स प्रपञ्चं षष्ठकाण्डस्यादावभिहितम् । स एव प्रजापतिरियं नीयमानोऽग्निः अतोऽत्र जिह्वा-शब्देन * सप्त पुरुषा विद्वक्षन्त इत्याह— “या न मुनिति तेषां मेतदाहिति तेषां मेतदभिधानं करोति तानाहेत्यर्थः । अत्र प्राण-शब्देन शरीरस्थानीन्द्रियाणि उच्यन्ते अतश्चैतेषां शब्दानामन्तरं इन्द्रियावाचकत्वेऽपि न साङ्कर्यम् । “सप्तधाम प्रियाणोऽथनेन कृत्वांस्यभिधोयन्त इत्याह कृत्वांसि इति यत एत मग्निं होत्वमैत्रावरुणादयाः सप्तहोत्रा अग्निष्टोमादिभेदेन सप्तधा यजन्ति । अत उच्यते सोऽर्थो मन्त्रेणेत्याह,— “सप्तहोत्रा इति स्थानवाचकत्वात् योनि-शब्दे चित्तयोऽभिधीयत इत्याह,— “चित्तोरेतदिति । घृतस्य रेतः सप्त हि हेतुत्वे चित्तोनाश्च लोकात्मकत्वात् घृतेनेति वचनेन लोकेश्वेव रेतो निहितवान् भवतोत्याह,— “घृतेनेतीति । स्वाहाकारस्य यज्ञात्मकत्वात् स्वाहेत्युक्त्वा इदं मुक्तं प्राणादिकं

* “सप्तजिह्वाः सन्ति च्वालारूपाः सप्तजिह्वाः हिरण्यगङ्गाद्या आगमोक्ताः यद्वा आथर्वणिकोक्ताः काली कराली च मनोजवा च विलोहिता च सधूमवर्णा स्फलिङ्गिणी विश्वरुची च देवी जेलायमाना इति सप्तजिह्वा ।”

सर्वं युगपदेव यज्ञाहं करोतीत्याह,— “स्वाहेति । हे अग्ने !
सप्तभिधः पुरुषाः सप्त ऋषयः मरीच्यादयश्च तत्र द्रष्टारः सन्ति ।
तथा सप्त प्रियाणि धाम धामानि गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्सहतीति
पङ्क्तिं त्रिष्टुप् जगति एकास्यानि छन्दांसि वसन्ति किञ्चत्वा
होतृब्रह्ममित्रावरुणब्राह्मणाहंसिपोतृनेष्ट्रानीधो ऽच्छावाकास्यां
सप्तहोत्राश्च अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडश्यतरात्र आप्तो-
र्यामो वाजपेयश्चेति सप्तधा यजति तादृशं स्वं अस्माभिर्ह्य-
मानेन सप्तयोनी धितारापूरयेति मन्वार्थः ॥ ४४ ॥

मन्त्रे पौनःपुन्येन सप्तसंशब्द प्रयोगः कृत्स्नस्याग्नेर्स्तृप्तिहेतु
र्भवतीत्याह,— “सप्तसप्तेति । प्रकृताहुतोनां त्रित्वं मपि तथैव
प्रयंसति— “तिस्र आहुतीरिति । सप्तधा माहुतोनाञ्च मिलिता
षट्सङ्ख्या भवति । तस्य तु ब्राह्मणं प्रागुक्तं मित्याह— “तिस्रः
सप्तभिध इति ॥ ४५ ॥

अथ सप्तिदाहृतीनामस्थिमांसान्मकत्वात् तत् सन्निवेशानु-
सारेण नास्तिष्टन्नासीनो जुहुयादित्याह,— “तिष्ठन्नित्यादिना ।
कठिनावयवसन्निवेशसाधारण्यात् सप्तिधा मस्थित्वं तानि
उच्छ्रितत्वात् तिष्ठन्तीव भवन्ति । अस्थि मांसानुसारेण सप्तिधां
अन्तरां आज्याहुतयस्तु बाह्याः कर्त्तव्या इत्याह,— “अन्तरा
इति ॥ ४६ ॥

अथास्याग्निप्रणयनात्मकस्य कर्मणः सम्पत्तिं सप्तिधातुं
प्रणिजानीते,— अथातः सम्पदेवेति । ता मेव दर्शयति,—
“षट् पुरस्तादिना । प्रणयनात् पूर्वं तिस्र आहुती स्तिस्रः

समिदाहुतीष जुहोति । अतस्तत्र षण्णमन्त्रा भवन्ति यद्यपि द्वितीय तृतीय राज्याहुत्योः * षोडश मन्त्राः प्रयुज्यन्ते तथापि आहुत्यनुसारेण ते सर्वेऽपि द्वावेव मन्त्रा विति परिगल्येते । उपरिष्ठादग्निनिधानात् पश्चात्तिस्रः समिदाहुती-स्तिस्र आज्याहुतीष जुहोतीति तेऽपि षण्णमन्त्राः । आग्नीध्र-मण्डपेऽपि कश्चित् पृश्निरश्मोपधीयते तात्पर्यं षड्भिर्मन्त्रैर्मन्त्रन्ति । अत्र यद्यपि पञ्चदिशो दैवैरित्यादयः पञ्चैव मन्त्रा-गमने विनियुक्ताः, तथापि उदुत्वेत्यादिना मन्त्रेण सहैते षड् भवन्ति, इति षण्णामपि मन्त्राणां गमनसाधनत्वा-भिधानं गमनमन्त्रवाहुत्याभिप्रायम् । “विमान एष दिव” † इत्यादिभ्यां “पृश्नि मरमान मुपदधाति ‡ । “इन्द्रं विष्वा § ” इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः “अग्नि” ॥ पर्यन्तं गच्छति । “क्रमध्व मग्निना ¶ इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः विष्याग्नि मारोहन्ति । तदेव मेकोनत्रिंशन् मन्त्रा भवन्ति । एतदुक्त मन्त्रस्रग्ध्व “आहुतिरेव त्रिंशत्तमो” त्रिंशत् सङ्ख्या पूरणो यद्यपि आहुतोत्थक्तयो बहवः सन्ति तथापि सामान्यानुसारेण ताः सर्वा अपि एकैवाहुति

* “द्वितीयराज्याहुत्योः (!)” इति छ, भ, अ ।

† इहैव पुरस्तात् पृ० १३५ पं० १ : वा० सं० १७. ५६ ।

‡ वा० सं० १७. ६० ।

§ वा० सं० १७. ६१ ।

॥ वा० सं० १७. ६५ ।

¶ वा० सं० १७. ६२ ।

भवति । “सुपर्णाऽसि गतमान्” * इत्याभ्यां द्वाभ्या मग्निं निदधाति । “तद् द्वाविंशत्” सङ्ख्यायं सम्पद्यते, अनुष्टुप्द्वात्रिंशदक्षरो भवति । अतस्तदेतदाग्नि प्रणयनात्मकं मत्वाहुति सङ्ख्याद्वारा अनुष्टुप् छन्दो भवन्ति ; “सैषेति” ॥ ४७ ॥

स्त्रिलिङ्गाच्च अनुष्टुबित्येतद्वितीय विशेषापेक्षां सप्तमकाण्डे गार्हपत्याचयनाभिधानानन्तरम् † । तत्र तिस्रोऽनुष्टुभः सम्पाद्यतासां मध्ये एका माहवनीयं प्रत्यग् भवन्तीत्युक्तम् ‡ । अत्रोक्तप्रकारेणानुष्टुभः सम्पादने तासां मेका § अनुष्टुभ मत्वाहृतवत्तो भवन्तीत्याह, — “तथा अमू रिति । गार्हपत्यात् खल्वग्निराहवनीय स्यात् प्रति प्रणीतो ऽतथाग्निप्रणयने विद्यमान मन्वाहुति सङ्ख्याद्वाराथानुष्टुभः सम्पादनात् गार्हपत्ये सम्पादिताना अनुष्टुभा मेका मत्वाहृतवन्तो भवन्तीत्युच्यते । गार्हपत्यादेकस्या अनुष्टुभोऽत्राहरणे प्रयोजन माह— “तद्यदेता मिति । अत्राग्निवयसरे ‘एष सर्वोऽग्निः संस्कृतः’ कात्स्त्रेण संस्कृतः ‘स’ एषोऽग्नि अत्र मत्स्यदभक्षयिष्यदिति यत् तस्मै नाल मानीत् अत्रादनाय समर्गे नाभूदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

पथात् स वित्याग्निः प्रणेष्यमाण मग्निं त्वया अगतेनः त्र मशानोत्यब्रवीत् । तत स्तथेति, तेनाप्यङ्गोक्तं । तस्मा-

* वा० मं० १७. ७२ ।

† का० ७. १. २. १६ ।

‡ “प्रत्यसं नवंत्युक्तम्”—इति छ. भा. अ ।

§ “ताभामेकासा”—इति ज ।

दक्षिन्नेवावसरे * एत मग्निं गार्हपत्यादत्र चित्याग्नावह-
रन्ति अनेन गार्हपत्यादनुष्टुभ आहरण मुक्तं । अथ पश्चादेषो-
ऽन्नाय समर्थो भवति । “अलमाहुतिभ्यो” इति । तदेवाह
दर्शितं आहुतिरूपायान्नाय समर्थो भवति अग्निं प्रणयनानन्तर
मेवचित्याग्नेः आहुति सम्बन्धादिति भावः ॥ ४८ ॥

“अथो आहुरित्यादिकस्याय मर्थः,— किञ्चगार्हपत्यादनुष्टुभ
आहरणेन चित्याग्नि रूपः प्रजापति रेव प्रीणाति ततोऽग्नि रूप
मेतं ‘प्रियं पुत्र मुरसि धत्ते’ धारितवान् भवतीति ब्रह्मव दिम
आहुः । अतोऽपि तस्मादनुष्टुभ आहरन्तीत्यर्थः । उक्तार्थं वेदानं
प्रशंसति— “अथो हैतदिति । लोके यः कश्चिज्जगः एतदर्थरूपं
एव मुक्तप्रकारेण जानाति स जनश्चैव मेव उरमि प्रियं पुत्रं
आधत्ते खलु हेति निपातः प्रसिध्यर्थोत्तकः । व्यवहित-
स्येत्यनुशासनःत् पदान्तर व्यवहितोप्याडित्युपसर्गोधत्त इत्यनेन
सम्बन्ध्यते ॥ ५० ॥

अथ प्रकारान्तरेणापि गार्हपत्यादग्नेः आहरणं प्रशंसति —
“यद्देवैत मिति । अय मेवेति । योऽय मग्निः अधुनास्माभि-
क्षीयते अय मेव चित्याग्निः समानां पुरुषाणां समष्टिरूपः
एक पुरुषः अथैषां पुरुषाणां यां ‘श्रियं’ परमं रूपं उवा
‘समुदोहन्’ समुदाक्षिपन् एषा सरूपा श्रीः सोऽग्निः पुरुष
इति पुंस्त्रिङ्गं विधे आयापेक्षं य मेत मग्निं इदानीं चित्याग्ना

वाहरति इदानीं वाङ्मयमाणो ऽग्निं सप्तपुरुषाणां समुच्चिप्त
 श्रीरूप इत्यर्थः । तस्मात् कारणात् एत मग्नि मवाहरन्तीति
 यत तेन एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीरूपयोरसोस्तित मूर्ध
 मुच्चिपन्ति किञ्च तस्याः श्रियः शिरोरूपत्वं तत्रैव षष्ठकाण्डे-
 ऽभिहितम् । तस्मात् तदेतच्छ्रीरूपोऽग्निरस्य प्रजापतिः शिरश्चितो-
 ऽय मग्निः पुनरात्मन शरीरं (!) अत एते गार्हपत्यादग्नेः
 आहरणेन संस्कारेण प्रजापतिशरीरे स्वकीयं शिर एव सम्बधा-
 तीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ १ [२, ३] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 नवमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाडं निवारयन् ।
 पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,
 सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।
 रत्नोत्थां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यो ,
 व्यश्राणोद्विष्वक्क्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।

प्राज्योत्यं प्राज्यजम्मा लवणज मन्वणः शार्करं चार्कतेजाः ,
रत्नाब्धो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण
सायणाचार्येण विरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
नवमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

अथातो व्वैश्वानरं जुहोति । अचैष सर्वा
ऽग्निः संस्कृतः स ऽण्षोऽत्र व्वैश्वानरो देवता
तस्मा ऽएतद्विर्जुहोति तदेनं हविषा देवतां
करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न
सा यस्यै न गृह्यते द्वादशकपालो द्वादश मासाः
संवत्सरः संवत्सरो व्वैश्वानरः * ॥ १ ॥

यद्वैतं व्वैश्वानरं जुहोति । व्वैश्वानरं वा
ऽएत मग्निं जनयिष्यन् भवति त मद्ः पुरस्ता-
द्दीक्षणीयायां रेतो भूतं सिञ्चति यादृग्वै योनौ
रेतः सिञ्चते तादृग् जायते तद्यत्तत्र व्वैश्वानरं
रेतो भूतं सिञ्चति तस्मादथ मिह व्वैश्वानरो
जायत ऽउपांशु तत्र भवति रेतो वै तत्र यज्ञ
ऽउपांशु वै रेतः सिञ्चते निरुक्त ऽद्वह निरुक्तं
हि रेतो जातं भवति ॥ २ ॥

* 'वैश्वानरः'—इति ग, घ ।

स यः स वैश्वानरः । इमे स लोका इय
मेव पृथिवी विश्व मग्निर्नरो ऽन्तरिक्ष मेव विश्वं
व्वायुर्नरो द्यौरेव विश्व मादित्यो नरः ॥ ३ ॥

ते ये त ऽइमे लोकाः । इदं तच्छिर ऽइद
मेव पृथिव्योषधयः श्मश्रूणि तदेतद्विश्वं व्यागैवाग्निः
स नरः सोपरिष्ठादस्य भवत्युपरिष्ठाद्वाग्ना ऽअग्निः* ॥
॥ ४ ॥

इद् मेवान्तरिक्षम् । तस्मादेतदलोमकमलोमक
मिव ह्यन्तरिक्ष तदेतद्विश्व म्प्राण एव व्वायुः
स नरः स मध्येनास्य भवति मध्येन ह्यन्तरिक्षस्य
व्वायुः † ॥ ५ ॥

शिर ऽएव द्यौः ‡ । नक्षत्राणि केशास्तदेतद्विश्वं
चक्षुरेवादित्यः स नरस्तदवस्ताच्छीर्षा भवत्यवस्ताधि
दिव ऽआदित्यस्तदस्यैतच्छिरो वैश्वानर ऽआत्माय

* 'अग्निः'—इति घ, ङ ।

† 'वायु'—इति ग, घ ।

‡ 'द्यौ'—इति ग, घ ।

मनिश्चित ऽआत्मान मेवाद्यैतत् संस्तुत्य शिरः प्रति-
दधाति * ॥ ६ ॥

अथ मारुतान् जुहोति । प्राणा वै मारुताः
प्राणानेषाम्निन्नेतद्दधाति वैश्वानरं हुत्वा शिरो
वै वैश्वानरः शीर्षंस्तुत् प्राणान् दधाति † ॥ ७ ॥

एक ऽणु भवति ‡ । एक मिव हि शिरः सप्ते-
तरे सप्तकपाला यदु वा ऽअपि बहु कृत्वः सप्त-
सप्त सप्तैव तच्छीर्षण्येव तुत् सप्त प्राणान् दधाति ॥
॥ ८ ॥

निरुक्त ऽणु भवति । निरुक्त मिव हि शिरो
ऽनिरुक्ता दूतरे ऽनिरुक्ता ऽद्वव हि प्राणास्तिष्ठन्नेतं
जुहोति तिष्ठतीव हि शिर ऽआसौन ऽदूतरानासत-
द्वव हि प्राणाः § ॥ ९ ॥

* 'प्रतिदधानि'—इति ख ।

† 'दधानि'—इति ख ।

‡ 'एक ऽणु भवति'—इति ख ।

§ 'प्राणाः'—इति ग, घ ।

तद्यौ प्रथमौ मारुतौ जुहोति । इमौ तौ प्राणौ तौ मध्ये वैश्वानरस्य जुहोति मध्ये हीमौ शीर्षाः प्राणौ * ॥ १० ॥

अथ यौ द्वितीयौ । इमौ तौ तौ समन्तिकतरं जुहोति समन्तिकतर मिव हीमौ प्राणौ † ॥

॥ ११ ॥

अथ यौ तृतीयौ । इमौ तौ तौ समन्तिकतरं जुहोति समन्तिकतर मिव हीमौ प्राणौ व्याग्वारण्येऽनुच्यः सो ऽरण्ये ऽनुच्यो भवति बहु हि व्याचा घोरं निगच्छति ‡ ॥ १२ ॥

यद्देशे वैश्वानर मारुतान् जुहोति । क्षत्रं वै वैश्वानरो त्रिणामारुताः क्षत्रं च तद्विशस्य करोति वैश्वानरं पूर्वं जुहोति क्षत्रं तत् कृत्वा त्रिणं करोति § ॥ १३ ॥

एक ऽएष भवति । एकस्यं तत् क्षत्र मेक-

* , † 'प्राणौ'—इति ग , घ ।

‡ "नियच्छति" Śāyana—इति च ।

§ 'करोति'—इति ख ।

स्थां श्रियं करोति बहव इतरे विशि तद्-
भूमानं दधाति ॥ १४ ॥

निरुक्त ऽएष भवति । निरुक्त मिव हि चत्र
मनिरुक्ता इतरे ऽनिरुक्तेव हि विट् तिष्ठन्नेतं
जुहोति तिष्ठतीव हि चत्र मासीन ऽइतरानास्त
ऽइव हि विट् * ॥ १५ ॥

तं वा ऽएतम् । पुरोऽनुवाक्यवन्तं याज्यवन्तं
व्वषट्कृते सूचा जुहोति हस्तेनैवतरानासीनः स्वाहा-
कारेण चत्रायैव तद्विशं कृतानुकरा † मनुवर्त्मानं
करोति ॥ १६ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैते पुरो ऽनुवाक्यवन्तो
याज्यवन्तो व्वषट्कृते सूचा हुता भवन्तीत्येतेषां
वै सप्तपदानां मारुतानां यानि त्रीणि प्रथमानि
पदानि सा त्रिपदा गायत्री पुरो ऽनुवाक्याथ यानि
चत्वार्युत्तमानि सा चतुष्पदा त्रिष्टुब्याज्येद मेव ‡

* 'विट्'—इति ग ।

† 'कृतानुवाका'—इति ङ ।

‡ "इयमेव कपुशा०"—Sāvāṇa—इति च ।

कपुच्छलमयं * दण्डः स्वाहाकारो व्यषट्कार एव
मु हास्यैते पुरोऽनुवाक्यवन्तो याज्यवन्तो व्यषट्-
कृते सूचा हुता भवन्ति ॥ १७ ॥

तद्यं प्रथमं दक्षिणतो मारुतं जुहोति । याः
सप्त प्राच्यः स्रवन्ति ताः स सप्तकपालो भवति
सप्त हि ता याः प्राच्यः स्रवन्ति ॥ १८ ॥

अथ यं प्रथमं मुत्तरतो जुहोति । ऋतवः स स
सप्तकपालो भवति सप्त ह्यृतवः † ॥ १९ ॥

अथ यं द्वितीयं दक्षिणतो जुहोति । पशवः
स सप्तकपालो भवति सप्त हि याम्याः पशु-
वस्तु मनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोत्यप्सु तत् पशून् प्रति-
ष्ठापयति ‡ ॥ २० ॥

अथ यं द्वितीयं मुत्तरतो जुहोति । सप्त ऽऋ-
षयः स सप्तकपालो भवति सप्त हि सप्त ऽर्षय-

* "कपुच्छलमयं"—इति ङ, च ।

† 'ह्यृतवः'—इति क, 'हृतवः'—इति ख, ग ; 'हृतवः'—इति ङ

‡ 'प्रतिष्ठापयति'—इति ख ।

स्त मनन्तर्हितं पूर्वस्माञ्जुहोत्यृतुषु तदृषीन् प्रति-
ष्ठापयति * ॥ २१ ॥

अथ यं तृतीयं दक्षिणतो जुहोति । प्राणाः
स स सप्तकपालो भवति सप्त हि शीर्षन् प्राणास्त
मनन्तर्हितं पूर्वस्माञ्जुहोत्यनन्तर्हितांस्तुच्छीर्णाः प्राणान्
दधाति ॥ २२ ॥

अथ यं तृतीयं मुत्तरतो जुहोति । छन्दांसि
स स सप्तकपालो भवति सप्त हि चतुरक्षराणि
छन्दांसि त मनन्तर्हितं पूर्वस्माञ्जुहोत्यनन्तर्हितानि
तदृषिभ्यश्छन्दांसि दधाति ॥ २३ ॥

अथ याः सप्त प्रतीच्यः स्रवन्ति । सो ऽरण्ये
ऽनच्यः स सप्तकपालो भवति सप्त हि ता याः
प्रतीच्यः स्रवन्ति सो ऽस्यैषो ऽवाङ् प्राण ऽएतस्य प्रजा-
पतेः सो ऽरण्ये ऽनच्यो भवति तिर इव तद्यदरण्यं
तिर इव तद्यद्वाङ् प्राणस्तस्माद्य ऽएतासा नदीनां

पिबन्ति रिप्रतराः शपनतराः* ऽथाहनस्रवाद्दितरा
भवन्ति तद्यद्यदेतदाहेदं माहता इति तदस्मा
ऽध्वं कृत्वापिदधाति तेनैनं प्रीणाति ॥ २४ ॥

स यः सु व्वैश्वानरः†। असौ सु ऽथादित्यो ऽथ ये
ते मारुता रश्मयस्ते ते सप्त सप्तकपाला भवन्ति
सप्त-सप्त हि मारुता गणाः ‡ ॥ २५ ॥

स जुहोति । शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्य-
ज्योतिश्च ज्योतिष्मांश्चेति नामान्येषा मेतानि
मण्डल मेवैतत् संस्कृत्याथास्मिन्नैतान् रश्मीन्ना मग्राहं
प्रतिदधाति ॥ २६ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [३. १.] ॥

* “शपनतरा” Sáyaṇa (?)—इति च ।

† ‘वैश्वानरो । ऽसौ’—इति ग, ‘वैश्वानरः’—इति घ ।

‡ ‘गणाः’—इति क, ‘गणाः’—इति ग ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये स्वयमाहृत्साया व्याघारणसमुच्चणादि कर्मा-
भिहितम् । अथास्मिन्नध्याये वैश्वानर माहृतवसोर्धारादिहोम-
लक्षणं कर्माभिधास्यते । (तत्रादौ वैश्वानरहोमं विधत्ते —
“अथात इति । ‘अथ’-शब्देनाग्नि प्रणयनानन्तर्यं द्योतते, अत
इति । अत्रैष सर्वोऽग्निरित्याद्युत्तरकाल प्रतिपाद्य मर्थं हेतु-
तया परामृशति । ‘वैश्वानर’-शब्दस्तद्देवत्वं हविराचष्टे यतो-
ऽस्मिन्नवसरे अग्निर्वैश्वानरो देवता भवति । अतस्तत् प्रीणनार्थं
तद्देवत्वं हविर्जुहुयादित्यर्थः । न केवल मनेनास्मैभागसम्पादनं
क्रियते , अपि तु देवतात्वं सम्पादन मपीत्याह ,— “तदेन
मिति । तदेव मुपपादयति ,— “ यस्यै वा इति । वैश्वानरं
जुहोति सामान्येनाभिधानादिक मपि तच्छब्देनोपायेत्य-
दौत (!) आह)*— “द्वादश कपाल इति । द्वादशसु कपालेषु
संस्कृतः पुरोडाशो † द्वादशकपालः द्वादशमासाः सम्भूय संव-
त्सरो भवति । वैश्वानरोऽग्निश्च संवत्सरात्मकं तत स्तदर्थं
हविर्द्वादशकपालसंस्कृतः पुरोडाशो भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

* बन्धनीचिह्नानाः पाठो नास्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

† “पुरोऽनुवाक्याः ॥”— इति ऋ. ञ ।

अथ पुनस्त मेव वैश्वानरहोमं प्रशंसति— “यद्देवैत मिति । अदःशब्दो दीक्षणीयेष्टिकालं परामृशति । ‘पुरस्ताद्’ इति पूर्वकालमात्रमाचष्टे” पूर्वममुष्मिन् काले दीक्षणीयेष्ट्याम् वैश्वानरं रेतोभूतं सिञ्चतीति यत् अतएव मग्निः वैश्वानररूपं जनयिष्यन् भवति दीक्षणीयायां कृतो वैश्वानरार्थो होमः एतस्याग्ने वैश्वानररूपेणोत्पादनार्थं रेतः सेचनवान् भवतीत्यर्थः । लोके हि योनौ यत् प्रकारविशिष्टं रेतः सिञ्चते उत्पत्तिकाले तत् प्रकारविशिष्टे नैव तज्जायते । न पुनः प्रकारान्तरविशिष्टेन दीक्षणीयायां वैश्वानरं रेतोरूपेण सिञ्चानिति यत् तस्मादयमग्निरिहापि तदनुरोधेन वैश्वानर एव जायते अतश्च वैश्वानररूपेणोत्पादनाय वैश्वानरदेवत्यं हविर्जुहुयादिति * भावः । “उपांशु तत्र भवतीत्यादिकस्यायमर्थः,— यज्ञशब्देन यष्ट्यश्चात् वैश्वानर उच्यते । तत्र दीक्षणीयायां यज्ञो रेतो रूपो भवति । खलु रेतश्च उपांशुरहस्यैव सिञ्चतेन प्रकाशं, अतस्तत्र प्रधान उपांशु^० भवति । इह तु प्रधानं निरुक्तं उच्चैरेवेष्टं भवति । जननावस्थायां रेतसः प्रकाशमेव जायमानत्वादत्रत्यस्य वैश्वानरस्य तथा विधत्वादिति ॥ २ ॥

अथास्य वैश्वानरात्मकतामाह—“स य इत्यादिना । अपूर्वोक्तो यो वैश्वानराग्निसहैवे मे पृथिव्यादयो लोकाः कुतः, इयमेव

‘पृथिवी विश्वं’ तदधिष्ठाता ‘अग्नि’ रेव ‘नर’ । तथा अन्तारक्ष
मेव विश्वं’ तदधिष्ठाता ‘वायुर्नरः’ ; एवं ‘धीरेव विश्वं’ तदधि-
ष्ठाता ‘आदित्यो नरः’ । पृथिव्यादीनां लोकानां मेकपदार्थाधार-
त्वेन विश्वं अग्न्यादीनां तु तदधिष्ठात्पुरुषत्वम् । एवञ्च वैश्वानर
इत्यत्र तदितरस्य स्वार्थिकत्वात् साधिष्ठात्तृका इमे लोका एव
स वैश्वानर इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ शिरसो वैश्वानररूप लोकात्मकता माह,— “ते
य इति । इदं मिति मुखं श्मश्रुविशिष्टं हस्तेन प्रदर्शने * ।
इदं मेव स्थानं पृथिवी शिरसि अभागत्वात् अत्रत्यानि
श्मश्रुण्येवीषधयः तदेतद्विश्वं मिति शिरसि दर्शितायाः पृथिव्या
वैश्वानरात्मकत्वं मुक्तं, ‘वाक्’ इति तत् स्थानं मुच्यते ।
अतश्च । वाक् चिबुकयोरीतराधयेणोक्तं वैश्वानरत्वं मुपपादयति
सोपरिष्ठादिति ॥ ४ ॥

इदं मिति मुखादुपरितनं हनुनत्रनासिकाललाटस्थानं
निर्दिश्यते अलोमकमिव ह्यन्तरिक्षं मिति । तत्र पृथिवीवत्
महीधरो महीरुहादीनामभावादित्यर्थः । “स मध्येनास्येति ।
‘वायुरन्तरिक्षस्य’ ‘मध्येन’ मध्यप्रदेशेन वर्तते इति । स प्राणोऽस्य
निर्दिष्टप्रदेशस्य मध्येन वर्तते ॥ ५ ॥

“शिर एवेति । अत्र ‘शिरः’ शब्देन ललाटादुपरितनं
केशोद्गमस्थानं मुच्यते, इदं तच्छिर इत्यत्र गलादुपरितनं सर्वं

* ‘प्रदर्शते’—इति ज, भ; ‘प्रदर्श्यते’—इति छ, ञ

अपि गिरसा प्रसिद्धेन * त्रिवर्षितम् । अन्वयां पूर्वीकस्यानु-
पपत्तेः । “तस्मैतदिति । यत एव तस्मादैशानरोऽस्य प्रजा-
पते रेतदुक्तकारं शिरः चितोऽय भञ्जिसु शरीरं, अत एतेन
होमेनास्यान्नि संस्कृता तत्र शिरः सम्बध्नातीत्यर्थः ॥ ६ ॥

वैश्वानरयागानन्तरं माहृतानां होमं विधाय तान् प्राणा-
न्ना (प्रशंसति, — “अथेति । तद्वोमस्य वैश्वानरः सम्बध्ना-
तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

वैश्वानरयागानन्तरं माहृतानां होमं विधाय तान् प्राणात्मक-
त्वात्) † तेषां तदनुविधाविनीं सङ्ख्या माह — “एक एव
इति । ‘इतरे’ माहृताः पुरोडाशः सप्तसु कपालेषु संस्कृताः
सप्त भवेयुः बहुकत्वोऽपि सप्तसप्तेति यदस्ति एतत् सप्तैव ।
अथपि सप्तानां कपालसप्तकानां मिलिता सङ्ख्या एकीन-
पञ्चाशद् भवति माहृता तावत् सङ्ख्याकत्वात् तथापि सप्तधा
भागेन ते सप्तैव भवन्ति । अतश्चेते शिरस्येव सप्तप्राणाभि-
दध्याति ॥ ८ ॥

अथ तदेव ‡ प्राणञ्च सुपजीव्य तेषां सुपांशुयागादिक
माह — “निरुक्त एव भवति । ‘एव’ वैश्वानरः ‘निरुक्तः’ व्यक्तः
उच्चैर्योगो भवति शिरसो व्यक्तत्वात् ‘इतरे’ माहृता ‘अनि-
रुक्ता’ अन्नक्ता उपांशुयागा भवेयुः । प्राणानामतीन्द्रियत्वेना-

* “दृषीद्वन” — इति ह. भ. ज ।

† बन्धनीचिह्नानाः प्रदर्शितः पाठो नास्ति भ-ज-पुस्तकयोरप्यत्र ।

‡ ‘यदेव’ — इति ज ।

व्यक्तत्वादित्यर्थः । “तिष्ठतीव हीति । शिर उच्छ्रितत्वात्तिष्ठतीव भवति । इन्द्रियाणि तु आनयत्येनासीनासतेव (?)# भवन्ति ॥ ८ ॥

अत इन्द्रयो मारुतानां होम मनूय तेषां तत्र इन्द्रोभूत प्राणात्मकता प्रदर्शनेन होमे स्थानप्रकार माह— “तस्यौ प्रथमावित्यादिनः । अथ प्रथम सन्निधानेन द्वितीये उपचारात् प्रथमयोग एव सुतरत्र द्वितीयं तृतीयादित्यत्रापि “इमौ ता विति । तौ प्रथमौ इमौ प्राणौ इमौ पाणयो हस्तैः निर्देशः । तौ वैश्वानरस्य पुरोडाशस्य मध्ये जुहोति । अनयोः श्रोत्रयोः शिरोमध्येऽवस्थानात् । अतएव कात्यायनेन सूचितम्,— “वैश्वानरे वा वैश्वानरं पृथुं” कल्पति ; अस्मि यां वैश्वानरेवेति † विकल्पः । तत्र मग्नी होमः शाखान्तगानुसारेण विकल्पितः । वैश्वानरे यदा होमः तदा वैश्वानरस्य पृथक् कर्णम् ॥ १ ॥

अथ यौ द्वितीया विमौ ता विति । इम.विति चक्षुषो निर्देशः । तौ समन्तिकारं सन्निहिततरे जुहुयात्, चक्षुषोः परस्परसन्निधानेनावस्थानात्, होमस्तु वैश्वानरस्य पश्चाद् भागे कर्तव्यः । पञ्चषष्ठयोः होमः तृतीयचतुर्थयोः पश्चात् सप्तमस्य तु होमः सर्वेषां पश्चात् क्रियते ; अतएव कात्यायनः,— “वैश्वानर

• “आनयत्येनासीनासीनानी” - इति अ. “आसतापृतनास्त्रानानीप्रीवा” - इति ऋ. “आसतापृतनास्त्रानानीप्रीवा” - इति ञ. ।

† वैश्वानरे वा वैश्वानरं पृथुं कृत्वा ‘शुक्रव्योति’ इति (वा० सं १७ ८० - ८५) प्रतिमन्त्रम् । मारुतान् जुहोति • विकल्पसायम् वैश्वानरे होमोऽस्मौवेति” - इति का० श्रौ० सू० १८. ४. २१, २४ ।

मधिश्रित्य दक्षिणोत्तरी मारुतौ • पश्चाच्च सङ्घटतगौ • एव
मपरो • पश्चादरण्येऽनृचम् । इ'मासादनयोश्च" इतिः वैश्वानर-
मासताना मैकतत्त्वात् "वैश्वानर मधिश्रित्य दक्षिणोत्तरी
मारुतौ" इत्युक्तम् । तत् प्रयोगप्रकारस्तु सूचतोऽवगन्तव्यः ॥ ११ ॥

"अथ यो तृतीया विमौ तावित्यचेमाविति मासाविवरयो
निर्देशः । इत्थं षष्ठां मारुतानां न तत् प्रमाणात्मकतया मभि-
धारण्येऽनृचं वागात्मना प्रशंसति — "वागेवेति । 'अरण्ये-
ऽनृचः' कश्चिदनुवाकः तेन ह्ययमानोऽपि पुरोडाशो 'ऽरण्ये-
नृचो' भवतीत्यादि वातस्य वागात्मकता मेवोपपादयति ॥ । यतः
कारणाद् 'वाचा बहु घोरं निगच्छति' अतो प्रकाशत्वेन
सोऽनुवाकोरण्येनृचस्ये भवति । तस्मादरण्येऽनृचवचनात् तस्य
वागात्मकत्वमुपपन्नमिति भावः ॥ १२ ॥

पूर्वं वैश्वानरं शिरोरूपेण मारुतान् स्मृतं तत् प्राणस्मृतवान् ,
इदानीन्तु तमेव वैश्वानरं मारुतान् क्षत्रं प्रजात्मना स्तौति —
"यद्देवेति । वैश्वानरस्य प्रजात्मकत्वेन सर्वतः प्राधान्यात् क्षत्र-
त्वम् । मरुतां प्रजात्वम् तैत्तिरीयके श्रूयते— "मरुतो देवानां
विश"—इति ॥ १३ ॥

अथ तेषां मुक्तमेव क्षत्रं प्रजात्मकत्वमुपजीय तत्
सङ्घादिकं प्रशंसति — "एक एव भवतीति । वैश्वानरस्यैकत्वेन

• का० श्रौ० सू० १८. ४. १७-१९ ।

† अरण्येऽनृचा भवतीत्यादिना तस्य वागात्मना प्रशंसति—इति भ्र-म ।

तत्र जातिवन्धनं प्राधान्यं 'मिकत्व' मिव करोति । अतएव 'त्रिय मिय करोति' ; अतएव 'त्रिय' मपि एकस्थां करोति , बहु अत्रप्राधान्ये परस्पर मिक मन्वात् राष्ट्रविषय प्रसङ्गात् मातृतामां बहुत्वेन प्रजाया मिव 'भूमामं' बहुत्वेन प्रजाया मिव 'भूमामं' बहुत्व' निदधाति । प्रजावन्धी कृतकम् भवति । "भूमाम मिति । "बहोर्ज्ञोपो भू च बहोः"—इति बहु शब्दाद्विहितस्ये मनि च इकारस्य लोपः । प्रकृतेव भू इत्यय सादेशः ॥ १४ ॥

'निरुक्त मिव हि चकम्'-इति साहाय्या सर्वां प्रजन-
काम्योच्चैर्वक्तव्यमानत्वेन अत्रस्य निरुक्तत्वम् । प्रजायासु तदा-
शुधीन चात्रीचैर्हतेरनिरुक्तत्वम् । अतएव 'अत्र तिष्ठतीव भवति ।
प्रजात्वासीनेव भवति ॥ १५ ॥

वैश्वानरं जुहोति मातृतां जुहोतीति * होम मात्र विधा-
नात्तत्र विशेषं विधाय प्रकंसति— "तं वा ऽएत मिति ।
"पुरोऽनुवाक्यवन्तं याज्यवन्तम् †"—इति ऋग्वेदस्यो ऋषः । त-
मेतं वैश्वानरं क्लीष्टं पुरोऽनुवाक्यवन्तं अज्जावन्तं होत्रावपट्-
कृतं शुद्धां शुद्धयात् । इतरात्मातृताम् चासीनी इत्येन साहा-
काराद्यैव शुद्धयात् । एवञ्च वैश्वानरस्य पुरोऽनुवाक्यासम्ब-
न्धिनि कथनेन यागत्वेन प्राधान्यादितरेषाम्बु तद् वैश्वानरो-

* "वैश्वानरो यजतिः मातृतां जुहोतयः • तत् कथं वैश्वानरं
हि प्रकृत्वाह"— इति का० श्रौ० सू० १८. ४. १७ क ।

† का० श्रौ० सू० १८. ४. १७ ख ।

सर्वमन्त्रात् प्रजां चचाय कृतानुकारिणी मनुगतवर्तमानस्य
करोति ॥ १६ ॥

अथ मादताना मुक्ताकारेण होमिन वैश्वानरवशागसम्पत्ति
र्घटत इति । सा सम्पत्ति कर्षं भवतीति प्रश्न पूर्वकोत्तरोद्घोषयति,—
“तदाहु रिति । एतेषां वै सप्तपदाना मित्स्वत्र मादत-शब्देन
तदोमसाधनभूताः “शुक्रज्योतिषेत्वादयो मन्त्रा ० विष-
सन्ते ते च सप्तपदा भवन्ति । अतश्च तेषां मन्त्राणां यानि
प्रथमानि त्रीणि पदानि सन्ति सा त्रिपदा गायत्री मेष
पुरोऽनुवाक्या भवति । अथ यानि चत्वार्युपरितमानि पदानि
सन्ति तानि चतुष्पदा त्रैष्टुप् मेष याज्या भवति । “इद मेवेति †
प्रसूतिरभनयेन प्रदर्शते,— कपुष्पला मेव ‡ इति वक्तुस्तु ५
मुच्यते । अथ मिति वाहु ‘दण्डः’ प्रदर्शते एवं वाहुरिव सुगि-
त्युक्तं भवति । ‘स्वाहाकार’ एव ‘वषट्कारो’ भवति । इत्य
मुक्तेन प्रकारेणास्वाम्यैर्यजमानस्य वा सम्प्रश्निम एव मादतां
‘पुरोऽनुवाक्या अण्णावन्तो वषट् कृते सुचा हुता भवन्ति ॥ १७ ॥

अथ होमक्रमेष तान् मादतान् प्रत्येकं मन्त्रादिक्रमेण
प्रशंसति— “तस्य प्रथम मिति । ‘प्राणः’ प्राणुषाः पूर्व-
समुद्रगामिन्यो नङ्गायमुनादयः सप्तमयः ‘स्रवन्ति ताः सप्त

० वा० सं० १७. ८०—८५ ।

† ‘इय मेवेति’—इति च, भ, न, ‘इय मेव चिति !’—इति छ ।

‡ “कपुष्पला मेव” —इति झ ।

५ “वक्तुस्तु”—इति छ, न, भ, न ।

प्रथमं दक्षिणतो दक्षिणभागे हुतो मारुतः पुरोडाशः सप्तसु
कपालेषु संसृतो भवति । 'याः' नद्यः 'प्राणः' 'स्रवन्ति'
तासां सप्तशान् ॥ १८ ॥

अनेन तस्य मारुतचोक्तसङ्ख्या नद्यात्मकत्वं समर्थते ।
उत्तरत्र सर्वत्राप्येव मेव अधिमसावेक्षया सप्त हि ऋतव'
इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

“त मनस्तर्हित मिति तं द्वितीयं पुरोडाशं पूर्वम्भान् मारु-
तादनं तर्हित मथवहितं तत् सम्बन्धे जुहुयात् । एवं पूर्वस्वा-
वात्मकत्वादात्स्वेव पशून्' प्रतिष्ठापयति ॥ २० , २१ ॥

“मनस्तर्हितांस्तच्छीर्षः प्राणान् दधानीति । पूर्वं मारुत-
पुरोडाशस्य प्रथमं मारुतेन सम्बन्धात्तस्य च वैश्वानरेण
सम्बन्धात् प्राणान् शिरसोऽनस्तर्हिता नथवहितान् करो-
तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

“सप्त हि चतुरक्षराणीति । चतुरक्षराधिकानि 'ह्रन्दांसि'
भवन्ति , यद्यवाक्षराः ह्रन्दो बहवः सन्ति ; तथापि चतुरक्षरा-
धिकानि ह्रन्दांसि सप्तैवेत्यर्थः । गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा,
उष्णिक् पुनरष्टाविंशत्यक्षरा , अनुष्टुप् द्वाविंशत्यक्षरा , एवं
ह्रत्ती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगत्स्यचतुरक्षराधिका भवन्ति ॥ २३ ॥

“सोऽस्यैष इत्यादिकथ्याय मर्थः, — 'स' एषो 'ऽरस्येनूचो' गणः
'अस्य अवाङ्' अधस्तनः 'प्राणः' इन्द्रियं अस्येति पदस्यैवायं विवृ-
णोति । 'ऽएतस्य प्रजापतेः'—इति तरुगुल्मादि भूयिष्ठत्वेन प्रकाश-
कत्वाद् अरस्य' 'तिर' रोहितं भवति । 'अवाङ्प्राणो' प्यादिनो

भवति । अनेन तस्योक्तं 'अवाङ्प्राणस्वं' समर्थितम् । 'तस्मात्' तदामिकानां मीतासां 'नदीनां' कर्मणी वही नदी ये पिबन्ति । अथवा पय इत्यध्याहार्यं तासां पयो ये 'पिबन्ति' 'ते' 'रिप्रतराः' प्रमिति पाप मुच्यते । पापिष्ठाः 'शपन' मिति । व्यत्ययेन पकारस्य फकारः • ध्रुवः । अत्यर्थं मुपान्मन्नीयाः । 'आहन' मिति नीचोक्ति मुच्यते । तस्मात् अर्थं 'वादितारो भवन्ति' इति मूत्ररूपत्वात्तासां नदीनां पयः पिबन्तो 'इतरा' † नीचा भवन्तीत्यर्थः । अथ 'माकता इति' अभिधानेन द्रव्यदेवतासम्बन्धप्रतीतेः 'अन्नं' सम्प्राप्य 'अन्नै' प्रजापतये प्रतिपादयेति । तेन च 'एनं' 'प्रीणाति' इत्याह,— 'तद्यदेतदिति ॥ २४ ॥

अथ वैश्वानरं अदित्यरूपेण माकतारश्मिरूपेण प्रशंसति,—
 "स यः स वैश्वानर इति । 'ते' च माकतां मरुत्तमसङ्गानुसारेण तत् पुरोडाशाः 'सप्त सप्तकपाला भवेयुः' इत्याह । 'ते सप्त सप्तकपाला' इति सप्त सप्त हि इति 'माकता गणा' सप्त सप्तकानि भवन्ति । एकोनपञ्चाशत्सङ्ख्याका मरुतः सप्तविधा विभागेन सप्त समुदाया भवन्ति । अतस्तत्सङ्गानुसारेण तत् पुरोडाशः 'सप्त सप्तकपाला' भवेयुः) § । ननु च पूर्वं मेव सप्तेतरे सप्तकपाला इति अत्र ते नाय मेयाथोभिहितः, किं मिति स

* "पकारस्य पकारध्रुवः (!)"— इति छ, ज, झ, ञ ।

† "नीचोक्तिसुच्यते (!)"— इति छ ।

‡ 'रिप्रतरा (!)'— इति छ, ज, झ, ञ ।

§ बन्धनचिह्नान्तः प्रदर्शितः पठो नास्ति अत्र न पुञ्जकथोरप्यत्र

एवात्रोच्यते इति नैतदस्ति पूर्वं यदु वा अपि बहु क्वत् इत्यादिना समधा विभागेन ते सर्वे सप्तैव भवन्तीति । शिरसि सप्त प्राणात्रिदधातीत्युक्तम् । ननु सप्तकपालानां सप्तत्वे कारणमुक्तम् । अथ पुनस्तत्र कारणमुक्तम् । अत्र पुन एतत्र कारणमुच्यते इति ॥ २५ ॥

अथ माहूतानां होमे मन्वान् दर्शयति,— “स जुहोति । “शुक्रज्योतिः * इति सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माद्येत्यादिके मन्वे रित्त्वर्थः । “नामान्येषा मिति । एतानि ‘शुक्रज्योति’ रित्वादीनि येषां रश्मीनां नामानि वैश्वानरस्यादित्यात्मकत्वं माहूतानां रश्मात्मकत्वं प्राणुक्तम् । अतश्चैव ते नामाभिहोमे आदिच मिव संसृत्वाद्याजिन् मण्डले’ एतानुक्तमाजो रश्मीनावस्थापयति ॥ २६ ॥ ३ [३, १]

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपथब्राह्मणभाष्ये

नवमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥



अथातो व्वसोर्धारां जुहोति । अथैष सर्वा-
 ऽग्निः संस्क्रतः स एषोऽथ व्वसुस्तस्मै देश एतां
 धारां प्रागृक्षंस्तथैव मप्रीणंस्तद्यदेतस्मै व्वसव ऽएतां
 धारां प्रागृक्षंस्तस्मादेनां व्वसोर्धारेत्याचक्षतं तथै-
 वाम्ना ऽचय मेतां धारां प्रगृक्ष्णाति तथैनं प्रीणाति ॥

॥ १ ॥

यद्वेतां व्वसोर्धारां जुहोति । अभिषेक एवा-
 ख्यैष ऽएतद्वा ऽएनं देवाः सर्वं कृत्स्नं संस्क्रत्या-
 थैन मेतैः कामैरभ्यषिञ्चन्नेतया व्वसोर्धाराया तथै-
 वैन मय मेतत् सर्वं कृत्स्नं संस्क्रत्याथैन मेतैः
 कामैरभिषिञ्चेतया व्वसोर्धारायाज्येन पञ्चगृहीते-
 नौदुस्वर्यां स्रुचा तस्योक्तो बभूवुः ॥ २ ॥

व्वैश्वानरं हुत्वा । शिरो वै व्वैश्वानरः
 शीर्षां वा ऽचन्न मद्यते यो शीर्षतो वा ऽचभि-
 षिच्यमानो ऽभिषच्यते मारुतान् हुत्वा प्राणा वै

मारुताः प्राणैरु वा ऽश्नन्न मदाते ऽथो प्राणेषु वा
 ऽश्मभिषिच्यमानो ऽभिषिच्यते * ॥ ३ ॥

तद्वा ऽश्नन्त्ये ऽनृच्ये । व्याम्वा ऽश्नन्त्ये ऽनृच्यो
 व्याचो वा ऽश्नन्न मदाते ऽथो व्याचा वा ऽश्मभिषिच्य-
 मानो ऽभिषिच्यते तदेतत् सर्व्वं व्वसु सर्व्वं ह्येते
 कामाः सैषा व्वसुमयी धारा यथा क्षीरस्य वा
 सर्पिषो व्वैव मारुभायैवेय माज्याहुतिर्हूयते तद्य-
 देषा व्वसुमयी धारा तस्मादेनां व्वसोर्द्धरित्या-
 चक्षते ॥ ४ ॥

स ऽथाह । इदं च स ऽइदं च स ऽइत्यनेन
 च त्वा प्रीणान्यनेन चानेन च त्वाभिषिञ्चाम्यनेन
 चेत्यतदथा ऽइदं च मे देहीदं च स ऽइति सा
 यदैवैषा धाराग्निं प्राप्नुशाद्ग्रैतद्यजुः प्रतिपद्येत † ॥
 ॥ ५ ॥

एतद्वा ऽएनं देशः । एतेनान्नेन प्रीरवैतैः

* 'अभिषिच्यते' - इति ऊ ।

† 'प्रतिपद्येत' - इति क ।

कामैरभिषिच्यैतया व्यसोर्हारियाथैन मेतान् कामा-
 नयाचक्षतेभ्य इष्टः प्रीतो ऽभिषिक्त एतान् कामान्
 प्रायच्छतथैवैन मय मेतदेतेनाद्येन प्रीत्वैतैः कामै-
 रभिषिच्यैतया व्यसोर्हारियाथैन मेतान् कामान्या-
 चते तस्मा ऽइष्टः प्रीतोऽभिषिक्त ऽएतान् कामान्
 प्रयच्छति द्वी द्वी कामौ संयुनक्त्यव्यवच्छेदाय यथा
 व्योकसौ संयुञ्जादेशं यज्ञेन कल्पन्ता मितिः ॥ ६ ॥

एतद्देवा अभुवन् । केनेमान् कामान् प्रति-
 ग्रहीष्याम ऽइत्यात्मनैवेत्यब्रुवन् यज्ञो वै देवाना मात्मा
 यज्ञ ऽउ ऽएव यजमानस्य स यदाह यज्ञेन कल्पन्ता
 मित्यात्मना मे कल्पन्ता मित्येवैतदाह ॥ ७ ॥

द्वादशसु कल्पयति । द्वादश मासाः संवत्सरः
 संवत्सरो ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मासा ताव-
 तैवैन मेतदग्नेन प्रीणात्यथो तावतैवैन मेतदग्ने-
 नाभिषिञ्चति चतुर्दशसु कल्पयत्यष्टासु कल्पयति
 दशसु कल्पयति त्रयोदशसु कल्पयति † ॥ ८ ॥

अथार्धेन्द्राणि जुहोति । सर्व्वं मेतद्यदर्धेन्द्राणि
सर्व्वेणैवैनं मेतत् प्रीणात्यथो सर्व्वेणैवैनं मेतदभि-
षिञ्चति * ॥ ९ ॥

अथ यद्दानं जुहोति । यज्ञो वै यद्वा यज्ञे-
नैवैनं मेतदग्नेन प्रीणात्यथो यज्ञेनैवैनं मेतदग्नेनाभि-
षिञ्चति † ॥ १० ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३. २.] ॥

प्रकृतस्वादेदच्छब्देन परामृशति, — “धारां गृह्णन् । गृही-
तया च तथा एन मप्रीषन् । तत ‘एतस्मै वसवै एतां धारां
प्रागृह्णन्’ इति यत् ‘तस्मादेनां वसोर्हारित्याचक्षते’ ब्रह्म-
वादिन इति शेषः । अतो यजमानोऽपि अनेन होमेन तथैव
करोति ॥ १ ॥

अथ पुनस्ता मेव ‘वसोर्हारां’ संस्कृतस्याग्रे अभिषेकात्मना
प्रशंसति— “यद्देवता मिति । ‘सर्व’ मित्येतत्सैव विवरणं

* ‘मेतदभिषिञ्चति’— इति ख ।

† ‘मेतदग्नेनाभिषिञ्चति’— इति ख ।

‘कृत्स्न’ मिति ‘एतैः कर्मै’ रिति “वाजसने प्रसवस म” *
 इत्यादि मन्त्रोक्ता वाजादयः काम्यमानत्वात् ‘काम’-शब्दे-
 मोच्यन्ते । ‘तैश्च एतया ‘वसोर्द्वारा’ च ‘अभ्यषिञ्चत्’ । अतएवो-
 परिष्टान् मन्त्रान् व्यावच १ माणोऽसु मीवार्थं अनेन चाभिषि-
 ष्णाम्यनेन चेत्येतदिति । अत इदानीन्तनोऽपि यजमान ‘स्तथैव’
 कृतवान् भवति । विहितं ‘वसोर्द्वारा चाज्येन पञ्चगृहोर्नेन
 औदुम्बर्गा सुषा’ कर्त्तव्या । तस्याज्यादिकस्य सर्वस्यापि माह्वणं
 प्रागुक्तं मित्याह,— “चाज्येनेति ॥ २ ॥

अथैतस्या वैश्वानरहोमानन्तर्यं प्रशंसति— “वैश्वानरं
 हुत्वेति । ‘शीर्षा’ इति तृतीयार्थं पञ्चमी इत्युक्तम् । (गला-
 दुपरितनस्य सप्त सर्षस्यापि शिरस्वात् मुखेनादत्तेऽपि शिरसेव
 ‘अन्नं मथते’ किन्तु लोके ‘अभिषिञ्च्य मानः’ पुरुषा शिरसि
 चारभ्येताभिषिञ्चते । अतोऽस्य वैश्वानरस्य शिरस्वादन्ना-
 भिषेकात्मिकाया वसोर्द्वाराया होमस्तद्वानन्तर मेव युज्यत
 इत्यर्थः ।

माह्वतहोमानन्तर्यमप्युक्तं प्रकारिणैव प्रशंसति— “माह्व-
 तान् हुत्वेति । ‘प्राचैत वा अन्नं मथते’ इति । ‘अन्न’ मिति
 शब्दादीन्द्रियार्थात्मकं भोग्यवस्तुच्यते ॥ ३ ॥

वसोर्द्वारां जुहोतीति स्थाने विशेषानुपादानेन विधानादग्नी

* वा० सं० १८. १ ।

† “वाचष्ट्रे मानो”—इति च ।

यत्र कुत्रापि होमसंज्ञावाह ,— “तदा इति । तत्र वसोर्दारा
विषये होमो ‘ऽपरस्येऽनूचे’ पुरोडाशे कर्तव्य इत्यर्थः ।

अत्र कात्यायनः ,— “वसोर्दारां शुद्धोन्वीदुम्बर्या पञ्चम्यहोतं
सत्ततं यजमानोऽरस्येऽनूचेऽनिपात” * इति । अथ तदेव
‘वसोर्दारां’-पदं प्रकारान्तरेण निर्वृत्ति, — “तदेतत् सर्व
मिति) † । यत एते ‘सर्वे’ वाजादय काव्यमानत्वात् ‘कामाः’
अतः काव्यमानस्यैव वसुत्वात् ‘तदेतत् सर्वं’ वाजादिकं
‘वसु’-शब्देनोच्यते । तस्मात् तत् प्रतिपादकमन्त्रसाध्येषा ‘धाराः’
‘वसु’ भवति , किञ्च ‘ये’ ‘माज्याहुति र्ह्यते’ ‘एषा’ लोके
‘यथा क्षीरस्य वा सर्पिषो वा’ धारा क्रियते एव ‘मारुधा एव’
मुपक्रम्य सम्पाद्यते । इदानीं क्रियमात्रे य ‘माज्याहुतिः’
क्षीराज्यधारावत् सम्पाद्यते इति धाराकारता प्रदर्श्यते । तथा
चोक्तप्रकारेण ‘एषा वसुमयी धारा’ भवति । यत एवं ‘तस्मादेनां
वसोर्दारेत्याचक्षते ॥ ४ ॥

(अथ प्रकृतहोमसाधनानां मन्त्राणां तात्पर्यार्थं दर्श-
यति ,— “स आहेति । ‘इदं च म ऽइदं च म ऽइति’ “वाजस्र मे
प्रवक्ष म ः” ऽइत्यादि) ‡ मन्त्राणां निर्देशः । ‘अनेन’ अनेन चात्रेण

* का० श्रौ० सू० १८. ५. १ ।

† बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तकादन्वय ।

‡ ‘वा० सं० १८. २ ।

§ बन्धनीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तके ।

चेत्यत्र वाजादयो निर्दिश्यन्ते । हे अग्ने त्वां 'अग्नेन चानेन'
आभिषिञ्चामि किञ्च 'इदं च मे देहि' अयं मर्षो मन्त्रैर्विव-
क्षित इत्युक्तं भवति ॥ ५ ॥

अथ कथं मेवोऽर्थो मन्त्रैर्विवक्षित इत्यत्र आह— “एतदा
इति । “एतदा वसोर्हारयेति । 'वसोर्हारा' नाम “वाजस म”
इत्यादि मन्त्रैः क्रियमाणा आज्यवारा । अतश्च वसोर्हारयत्ये-
तदेव विविक्ष्य दर्शितं,— “एतेवाग्नेन प्रीक्ष्यतेः कामैरभि-
षिञ्चेति । अथ प्रीणनाभिषेजानन्तरं एतं मन्त्रं मेतान् वाजादीन्
कामानवाप्नुवन्ततः कृतयागोऽग्निः 'प्रीतो' भूत्वात् तेभ्य 'एतान्
प्रायच्छत्' । अतस्त्वथैव यजमानोऽपि कुरुते । अत एतदनुसारेण
मन्त्राणां मुक्तं विधे एवार्थो विवक्षित इति भावः । मन्त्रेषु प्रत्येकं
पर्ययमाने व्यंश्छेदः स्यादिति । तदभावाय ही ही मन्त्रो
संयुज्यादियाह— “ही हाविति । अथेति 'व्यौकर्मो' विभिन्न-
देशस्यावाच्यार्थो 'यथा संयुज्यात् एव' मेतदिति संयोजनं
भवति । मन्त्रेषु तत्र तत्रावमानेषु 'यज्ञेन कल्पन्ता मिति'
आन्नायते । तस्यंदानो मुपयोग मत्त— “यज्ञेन कल्पन्ता
मिति ॥ ६ ॥

“एतदा इति । पूर्वं देवाः 'केनेमान् कामान् प्रतिग्रहीष्याम'
इति परस्परं युक्ता पश्चाद् 'आत्मनैव प्रतिग्रहीष्याम' इति
निर्णाय 'अत्रयन्' देवानां माम्मा शरीरं 'यज्ञः' खलु शरीरवत्
सर्वं भोगसाधनत्वादनश्च पञ्जरूपेण देवाः 'कामान्' प्रत्य-

गृह्यन्वित्यर्थः । तद्वत् 'एवं यजमानस्य अपि यज्ञ एव शरीरम् ।
एवञ्च यज्ञेन कल्पस्ता मिति' वचने 'मे' 'आत्मनैवेति' कामः
'कल्पस्ता मित्येवै' तदुक्तं भवति ॥ ७ ॥

तत्राख्यं द्वादश मन्वावसाने प्रयुञ्जगादित्याह, — "द्वादशसु
कल्पयतीति । तत्र कल्पनं कृत्स्नाग्नीप्रीति भवतीत्याह—
"द्वादश मासा इति । ननु सर्वत्र द्वादशस्यैव कल्पयेदिति ।
नेत्याह, — "चतुर्दशसु कल्पयतीति । 'याजत्र मे प्रसवस्यम'
(ऽइत्याख्याशाभिरनुवाकैरेषा वसोर्धारा इत्यतः । तत्रैकस्मिन्ननु-
वाके "अग्निश्च म ऽइन्द्रश्च मे सामश्च म ऽइन्द्रश्च मे सविता च
म ऽइत्यादि) † मन्वाः समान्नाताः । तत्र 'हौ हौ संयुजति'
इति वचनेन हयोर्हयो रवमानवधानात् मन्वद्वयस्य 'इन्द्रश्च म'
ऽइत्येतर्दं भवति । अतस्तं मन्वा अर्द्धेन्द्रगच्छेनोच्यते ॥ ८ ॥

अतश्च "अथार्द्धेन्द्रगोत्यनेन तत् मत्प्रसाध्यं होमं स्तोतु
मनुवदति, — अर्द्धेन्द्रोऽप्रीणाति -शब्दो मन्त्रवाक्यपरः । तद्वैशिष्ट्येन
द्रव्यस्य होमादुपवारेण अर्द्धेन्द्राणि जुहोति' इत्युक्तम् । एव
मुत्तरत्वापि । अर्द्धेन्द्र मन्त्रकरणकान् होमान् कुर्यादित्यर्थः ।
सर्वाधिपतिवेन सर्वैरेन्द्रसम्बन्धात् 'अर्द्धेन्द्राणि अपि सर्वत्वात्
तत् करण होमे कर्त्तुं 'सर्वणैः नरेतमग्निं' प्रोक्ताद्यभिषिचति
'चेत्याह, — "सर्वा मेत दिति ॥ ९ ॥

* वा० सं० १८. १६ ।

† बन्धुकीचिह्नान्तः प्रदर्शितः पाठो नास्ति ज-पुस्तके

“अथ शुद्धमे रश्मिय म # इत्यादयो मन्वा यहप्रतिपादक-
त्वाद् 'यहाः' ; तत् साध्य मपि होम मनूय प्रयंसति — “यज्ञो वै
यहा इति । यत्साधनत्वाद् यहाणां यज्ञत्वम् ॥ १० ॥ ४ [३, २] ॥

इति श्रीमायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपञ्चमब्राह्मणभाष्ये

नवमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति नवमकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

अथ

तृतीयपत्रके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ इति: ॐ ॥

अथैतान् यज्ञक्रतून् जुहोति । अग्निश्च मे घर्मश्च
मऽदृत्यैतैरेवैन मेतद्यज्ञक्रतुभिः प्रीणात्यथोऽएतै-
रेवैन मेतद्यज्ञक्रतुभिरभिषिञ्चति * ॥ १ ॥

अथायुज स्तोमान् जुहोति । एतद्वै देवाः
सर्वान् कामानाप्त्वायुग्भि स्तोमैः स्वर्गलोकमायं
स्तथैतद्युजमानः सर्वान् कामानाप्त्वायुग्भि स्तोमैः
स्वर्गलोक मेति † ॥ २ ॥

* 'रभिषिञ्चति' इति ख

† 'मेति' - इति ख ।

तद्वै त्रयस्त्रिंशद्दिशि * । अन्तो वै त्रयस्त्रिंशो
 ऽयुजाः स्तोमाना मन्तत ऽएव तद्देवाः स्वर्गं
 लोकं मायंस्तथैवैतद्यजमानो ऽन्तत ऽएव स्वर्गंलोकं
 मेति † ॥ ३ ॥

अथ युग्मतां जुहोति । एतद्वै कृन्दाः स्रव-
 न्यातयामा वा ऽपयुज स्तोमा युग्मभिर्व्ययं स्तोमैः
 स्वर्गंलोकमया मेति तानि युग्मभि स्तोमैः स्वर्गं
 लोकं मायंस्तथैवैतद्यजमानो युग्मभि स्तोमैः स्वर्गं
 लोकं मेति ॥ ४ ॥

तद्वा ऽपष्टाचत्वारिंशद्दिशि ‡ । अन्तो वा
 ऽपष्टाचत्वारिंशोऽ युग्मताः स्तोमाना मन्तत ऽएव
 तच्छ्रन्दाः स्वर्गंलोकं मायंस्तथैवैतद्यजमानो ऽन्तत
 एव स्वर्गंलोकं मेति ॥ ५ ॥

* 'त्रयस्त्रिंशद्दिशि'—इति ख . 'त्रयस्त्रिंशद्दिशि'—इति ग , घ ।

† 'मेति'—इति ख ।

‡ 'ऽपष्टाचत्वारिंशद्दिशि'—इति क , ख ।

§ 'ऽपष्टाचत्वारिंशोऽ'—इति ग , घ ।

स ऽथाह । एका च मे तिस्रसु मे चतस्रसु मे
 ऽष्टौ च म ऽद्विति यथा वृक्ष् रोहन्नृतरा मुत्तगा
 शाखाः समालम्भाः रोहितादृक्तयदेव स्तोमान् जुहो-
 त्यन्मं वै स्तोमा ऽअस्त्रेनैवैन मेतदभिषिञ्चति* ॥ ६ ॥

अथ व्वयांसि जुहोति । पशवो वै व्वयांसि
 पशुभिरैवैन मेतदन्नं न प्रीणात्यथो पशुभिरैवैन मेत-
 दन्ननाभिषिञ्चति † ॥ ७ ॥

अथ नामग्राहं जुहोति । एतद्दे देवाः सर्वान्
 कामानाप्त्वाथैत मेव प्रत्यक्ष मप्रीणंस्तथैवैतद्यजमानः
 सर्वान् कामानाप्त्वाथैत मेव प्रत्यक्षं प्रीणाति व्वा-
 जाय स्वाहा प्रसशाय स्वाहेति नामान्यस्यैतानि
 नामग्राह्यैवैन मेतत् प्रीणाति ‡ ॥ ८ ॥

अथोद्दृष्टानि नामानि भवन्ति । त्रयोदश
 मासाः संवत्सरस्ययोदशान्नेश्चिपुगीषाणि यावा-
 नन्निर्घावत्यस्य मावा तावतैवैन मेतत् प्रीणाति

* 'मेतदभिषिञ्चति'—इति ख । † 'मेतदन्नेनाभिषिञ्चति'—इति ख ।

‡ 'प्रीणाति'—इति ख, घ ।

यद्देव नामयाहं जुहोति * नामयाह मेवैन मेतद्भि-
विञ्चति † ॥ ९ ॥

अथाह । इयं ते राणिमत्राय यन्तासि य मन
ऽजर्ज्जं त्वा व्वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेत्यन्नं
वा ऽजर्ज्जन्नं व्वृष्टिरन्नं नैवैन मेतत् प्रीणाति ॥

॥ १० ॥

यद्देवाह । इयं ते राणिमत्राय यन्तासि य
मन ऽजर्ज्जं त्वा व्वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याये-
तीदं ते राज्य मभिप्रिक्तो ऽमीत्यंतन् मित्रस्य त्वं
यन्तासि य मन ऽजर्ज्जं च नोऽसि व्वृष्ट्यै च नो ऽसि
प्रजानां च न आधिपत्यामीत्युपब्रूत ऽएवैन मेत-
देतस्मै नः सर्वस्मा ऽपद्येतस्मै त्वा सर्वस्मा ऽपभ्य-
षिचा महीति तस्माद् इदं मानुषं राजान मभि-
षिक्तं सुपब्रुवते ‡ ॥ ११ ॥

* 'जुहोति' -इति ख ।

† 'मेतद्भिषिचति' इति ख नामयाह मेवैन मेतद्भिषिचति'—

(without any accentuation) इति ग घ ।

‡ 'सुपब्रुवतेः' -इति ख, ख ।

अथ कल्पान् जुहोति । प्राणा वै कल्पाः
प्राणानेवास्मिन्ने तद्दधात्यायुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो
यज्ञेन कल्पता मित्येतानेवास्मिन्ने तत् कृपान् प्राणान्
दधाति ॥ १२ ॥

द्वादश कल्पान् जुहोति । द्वादश मासाः
संवत्सरः संवत्सरो ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा
तावतैवास्मिन्ने तत् कृपान् प्राणान् दधाति यद्द्वेव
कल्पान् जुहोति प्राणा वै कल्पा ऽश्मृत मु वै
प्राणा ऽश्मृतेनैवैन मेतदभिषिञ्चति * ॥ १३ ॥

अथाह । स्तोमश्च यजुश्च ऽऋक् च साम च
बृहच्च रथन्तरं[†] चेति त्रयी हैषा त्रिद्यान्नं वै
त्रयी त्रिद्यान्नेनैवैन मेतत् प्रीणात्यथो ऽश्नेनैवैन
मेतदभिषिञ्चति स्वर्हेवा ऽश्मृता मृता ऽश्मृतेति
स्वर्हि[†] + गच्छत्यमृतो हि भवति प्रजापतेः प्रजा
ऽश्मृतेति प्रजापतेर्हि प्रजा भवति खेट् स्वाहेति

* 'मेतदभिषिञ्चति'—इति क, ख ।

† 'अभूमृतिस्वर्हि'—इति ग, घ ।

व्यषट्कारो ह्येष परोऽक्षं यद्देत्कारो व्यषट्कारेण
 वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते तदेन
 मेताभ्या मुभाभ्यां प्रीणाति व्यषट्कारेण च स्वाहा-
 कारेण चाथोऽणताभ्या मेवैन मेतदुभाभ्या मभि-
 विञ्चत्यत्र ताऽसुच मनुप्रास्यति यदत्राज्यमिप्तं तन्ने-
 ष्विहर्षानि रसदिति ॥ १४ ॥

तस्यै वाऽणतस्यै व्यसोर्धारायै । द्यौरिवात्माभ-
 मृधो विद्युत् स्तनो धारैव धारा दिवोऽधि गा
 मागच्छति ॥ १५ ॥

तस्यै गौरिवात्मा # । ऊध एवाध स्तन स्तनो
 धारैव धारा गोरधि यजमानम् ॥ १६ ॥

तस्यै यजमान एवात्मा । बाहुरुधः सुक-
 स्तनो धारैव धारा यजमानाद्धि देवान् देवेभ्यो
 अधि गां गोरधि यजमानं तदेतदनन्त मक्षय्यं
 देवाना मन्त्रं परिप्रवते स यो ह्येतदेवं व्यदेवः

हैवास्यैतदनन्त मच्चय्य मन्नं भवत्यथातः सम्पदेव* ॥

॥ १७ ॥

तदाहः । कश्मस्यैषा व्वसोर्हारा संवत्सर
मग्नि माप्नोति † कथं संवत्सरैषामग्निना सम्पद्यत
ऽइति षष्टिषु इ वै वीणि च शतान्येषा व्वसोर्हा-
राय षडथ पञ्चचिंशत्ततो यानि षष्टिषु वीणि च
शतानि तावन्ति संवत्सरस्याहानि तत् संवत्सर-
स्याहान्याभोत्यथ यानि षट् षड् वा ऽऋतवसुदृतुना
रात्रीणाप्राति तदुभयानि संवत्सरस्याहारावाप्याप्नो-
त्यथ यानि पञ्चचिंशत्स चशोदशो मासः स
ऽचात्मा त्रिंशदात्मा प्रतिष्ठा हे प्राणा हे शिर
एव पञ्चचिंश मेतावान्वै संवत्सर एव सु हास्यैषा
व्वसोर्हारा संवत्सर मग्नि माप्नोत्येव संवत्सर-
नाग्निना सम्पद्यत ऽण्तावत्य उ वै शाण्डिले ऽग्नी
मथतो यजुषात्य ऽदृष्टका उपधीयन्ते ऽजयो हैते

* सम्पदेव- इति ग, घ ।

† 'माप्नोति'-- इति ग, घ ।

